पुस्तक :
'पतझर और वसन्त'

लेखक :
विजय मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न

प्रकाशक :
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

प्रथम प्रवेश :
सन् १९६१

मूल्य :
दो रुपये

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा

प्रकाशक की ओर से

प्रस्तुत पुस्तक का नाम 'पतझर और वसन्त' है। यह पुस्तक विभिन्न विषयो पर लिखे गए निबन्धो का सकलन है। नैतिकता, जीवन, सस्कृति, धर्म और दर्शन विषय पर इसमे इकतालीस निबन्ध है। निबन्धो की भाषा सरस है, शैली सुन्दर है और भावाभिव्यक्ति अपने ढग की निराली है। प्रत्येक निबन्ध पाठक को प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान करेगा, इसमे तनिक भी सन्देह नही है।

श्री विजय मुनि जी की मजी हुई लेखनी से लिखे गए ये लेख व्यक्ति, परिवार और समाज के लिए मगलमय सिद्ध होगे—ऐसी मेरी विचारणा है। विशेषतः स्कूल और कालिजो मे पढने वाले छात्र-छात्राओ के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। निबन्धो की आधार-भूमि मनोवैज्ञानिक होने से यह निबन्ध हर किसी व्यक्ति के हाथो मे पहुँच कर उसे लाभकारी सिद्ध होगे।

सन्मति ज्ञानपीठ की ओर से प्रकाशित निबन्ध-साहित्य मे 'पतझर और वसन्त' अपना एक विशेष स्थान रखता है। पुस्तक का विषय, शैली और भाषा सरल से सरल इसलिए रखा गया है, कि इससे हर व्यक्ति लाभ उठा सके।

सन्मति ज्ञानपीठ आगरा

मत्री—

सोनाराम जैन

समर्पण

शिल्पकार : शिल्पकार एक अनघड पत्थर को कला का रूप देकर सुन्दर, पूज्य और आदरणीय बना देता है। यदि कलाकार अपनी कला का चमत्कार न दिखाता, तो वह पत्थर अन्य पत्थरो से कोई विशेषता न रखता। पत्थर को कला का रूप शिल्पकार ने ही दिया।

चित्रकार : चित्रकार अपनी तूलिका और विभिन्न रंगो के समन्वय से धवल कागज पर सुन्दर चित्र का जब अंकन करता है, तब द्रष्टा विस्मय-विमुग्ध हो जाता है। एक सुन्दर चित्र क्या है ? एक चित्रकार की प्रतिभा और अनोखी सूझ-बूझ ही तो चित्र है।

गुरु प्रवर : गुरु क्या है ? प्रकाश-का अधिदेवता। गुरु क्या है ? महिमा और गरिमा का माप-दण्ड। गुरु हिमालय से भी महान् होता है, और सागर से भी अधिक गम्भीर। शिष्य के जीवन को नयी दिशा और नया मोड़ देने वाला गुरु ही होता है। मेरे जीवन को नयी दिशा प्रदान करने वाले पूज्य गुरुदेव श्रद्धेय '**उपाध्याय अमरचन्द्र जी महाराज**' के पवित्र कर-कमलो मे 'पतझर और वसन्त' सादर समर्पित है।

—विजय मुनि

लेखक की कलम से

अपने प्रेमी पाठको को 'गुलाब और कांटे' के बाद 'पतझर और वसन्त' का उपहार देकर मुझे परम प्रसन्नता है। उपहार कैसा है? यह मेरे सोचने की बात नही। पाठक स्वय इसका मूल्याकन करे!

आज के युग मे नैतिकता मर रही है, और विलासिता पनप रही है। मानवता साँस ले रही है, और दानवता तन कर खडी है। विचार क्षीण हो रहा है, और विकार पीन होता जा रहा है। सचमुच, आज के मानव परिवार के सामने यह एक विकट समस्या है।

आज की सब से बडी माँग है—नैतिकता। आज की सबसे बुलन्द आवाज है—सदाचार। आज की सबसे बडी आवश्यकता है—धर्म, नीति और सस्कृति। भारत बिना भोजन के जीवित रह सकता है। पर, वह धर्म और सस्कृति के बिना कभी जीवित नही रह सकता। आज के इस गए-गुजरे जमाने मे भी भारत की मिट्टी के कण-कण से शील और सदाचार का मधुर सगीत मुखरित हो रहा है।

मेरे विचार मे उपदेश की पुरातन पद्धति आज के भारत मे बेकार हो चुकी है। नया भारत पुरानी बात को आज के नये निखार मे सुनना पसन्द करता है। वह नया निखार क्या है? मनोविज्ञान के आधार पर नैतिकता, शील और सदाचार का प्रसार और प्रचार।

'पतझर और वसन्त' मे नैतिकता, शील और सदाचार को मैने मनोविज्ञान के माध्यम से रखने का प्रयत्न किया है। मै नही कह सकता, कि इस प्रयत्न मे मुझे कितनी सफलता मिली है। सफलता और विफलता की तोल मेरे पास नही है। उसे रखना भी मै पसन्द नही करता। यह काम तो पाठको का है। हाँ, पुस्तक का नाम मैने पाठको की रुचि पर न छोड कर, अपनी रुचि पर रख छोडा है।

जैन-भवन आगरा

—विजय मुनि

कहाँ क्या है ?

१

मन के जीते जीत

मन ग्रक्षय शक्ति का भण्डार है। मन मे ग्रपार बल है। ससार पर ग्राज तक जिन्होने विजय प्राप्त की है, वह मन के वल पर ही। मन के हारने पर मनुष्य हार जाता है, मन के जीतने पर मनुष्य जीत जाता है। मनोबल से ही राम ने रावण को जीता, कृष्ण ने कस को जीता। मनोवल से गाधी ने भारत को वलवान् वनाया। सब प्रकार की सफलताग्रो का ग्राधार मनोवल है, मन.शक्ति है, इच्छा-शक्ति है। ससार पर विजय प्राप्त करने की दो ताकते हैं—पहली मन की, ग्रौर दूसरी तलवार की। पर मन की शक्ति के सामने तलवार की ताकत कमजोर है। उस स्थिति मे कमजोर है, जबकि मनुष्य का मन प्रबुद्ध एव जागृत हो।

मन क्या है ? मन एक शक्ति है। वह एक सूक्ष्म तत्त्व है, जिसको ग्राँख देख नही सकतो, हाथ पकड नही सकता।

मन अणु है, फिर भी उसमे विराट् शक्ति है। वह जीवन को सुधार सकता है, वह जीवन को विगाड सकता है। मन ही तो मनुष्य को बाँधता है, मन ही तो मनुष्य को मुक्त करता है। वन्धन और मुक्ति –ये सव मन के ही तो खेल हैं। मनुष्य के अन्दर जो मनन करने की शक्ति है, विचार करने की शक्ति है—वही तो मन है। शरीर फूल है, मन गन्ध। मन एक चुम्वक शक्ति है, जो सव को अपनी ओर खीचती है।

यदि आप अपने जीवन और भाग्य के अन्धकार को दूर करना चाहते हैं, तो अपने मन के प्रकाश को तेज करो, उसमे दिव्यता प्रकटे करो! अपने मन के प्रकाश से आप यह भली-भाँति जान सकते है कि आपके अन्दर मे कहाँ हीरे है, कहाँ मोती है, और कहाँ ककर पत्थर है? कहाँ आग धधक रही है, और कहाँ पर शीतल जल के झरने वह रहे है? जीवन के निशीथ को दूर करने की शक्ति आपके मन मे ही है। आपके जीवन के अधकार को आपके मन का तेजस्वी प्रकाश और आपके मन का प्रखर आलोक ही दूर कर सकता है। वस, एक वार अपने मन के स्विच को दवाने-भर की देर है, फिर तो उसमे से प्रकाश की हजारो हजार किरणे फूट पडे गी, जिनके दिव्य आलोक मे आपका जीवन-पथ आलोकित हो उठेगा।

चिन्ता और निराशा, विपाद और शोक, भय और ताप—ये सव मन के विकार है, मन के रोग है। इन आघातो से मन की शक्ति कमजोर होती है। चिन्ता से, शोक से और भय से क्या कभी किसी भी मनुष्य को लाभ हुआ है? नही, कभी नही। मन पर जितने अधिक चिन्ता, शोक एव भय के आघात होते हैं, मन उतनी ही अधिक मात्रा मे अपनी शक्ति को खोता

है। प्रसन्नता से चिन्ता को नष्ट कर डालो, विवेक से शोक को विकल बना डालो और विश्वास से भय को भगा डालो, तब देखना—अपनी मन शक्ति के चमत्कार। मन जितना अधिक शान्त होता है, उसमे से उतने ही वेग से शक्ति का अजस्र-स्रोत प्रकट होता है। मन की शक्ति अपार है।

जब आपका मन जाग उठता है, तब आपका भाग्य भी उठ बैठता है। जब आपका मन सो जाता है, तब आपका भाग्य भी सो जाता है। महावीर ने, बुद्ध ने और गाधी ने जो कुछ किया है—अपने मनोबल से, अपने आन्तरिक बल से ही किया है।

मनुष्य अपने मन के विचार के अनुरूप होता है। मानव-जीवन की प्रत्येक अवस्था पर और परिस्थिति पर उसके मन का प्रभाव पडता है। उसके विचारो के अनुसार ही उसका आचार और चरित्र बनता है और बिगडता है। जैसे वृक्ष बीज मे से पैदा होता है, वैसे ही मनुष्य का समस्त व्यवहार उसके विचार मे से जन्मता है। मन के विचार यदि अपवित्र है, तो निश्चय ही उसका जीवन भी अपावन ही होगा। जिस प्रकार खोज से, खोद से और शोध से खान मे से सोना निकलता है, उसी प्रकार अपने मन की खोज से, खोद से और शोध से सुख और आनन्द—सब कुछ पा सकता है। मन मे क्या कुछ नही है? सब कुछ है।

खटखटाने वाले के लिए दरवाजा खुल ही जाता है। जरा अपने मन के बन्द द्वार को खोलने का प्रयत्न करो, वह अवश्य ही खुलेगा। गोताखोर जब सागर के अथाह जल मे गहरा

गोता मारता है और रत्नो की खोज करता है, तो उसको अवश्य ही रत्नो की उपलब्धि होती है। आप भी अपने मन के सागर मे गहरा गोता लगा कर, उसमे से सब कुछ पा सकते है।

२

विचार की शक्ति

मनुष्य का जैसा विचार होता है—अच्छा या बुरा, उसका जीवन भी वैसा ही बन जाता है। शुभ विचार से जीवन सुन्दर बनता है, और अशुभ विचार से दूषित। किसी भी विचार को जब मनुष्य आचार का रूप देता है, तब वह विचार जीवन का अंग बन जाता है। विचार जितना गहरा होता है, वह जीवन को उतना ही प्रभावित करता है। बुरे और विपरीत विचार को किसी भी अवस्था मे स्वीकार न करना—अपनी आत्मा को विमल एव पवित्र रखने का एक सुन्दर नियम है।

जिस विचार को आप अपने मन मे सदा स्थान देते रहते है, उसको आपका चेतन मन आपके अचेतन मन तक पहुँचा देता है, वहाँ वह सस्कार रूप मे पडा रहता है। इसी को विचार-धारा कहते है। आप यदि अपनी विचार-धारा को पावन और विशुद्ध बनाना चाहे, तो अपने मन मे किसी भी प्रकार की हीन-भावना

को प्रवेश न करने दे। इच्छा-शक्ति से उसको दूर भगा दीजिए। उसके स्थान पर किसी सुन्दर विचार को प्रवेश करने दीजिए। हीन-विचार के विरोध मे महान् विचार को रखने से हीन-विचार नष्ट हो जाएगा, क्योंकि मन मे एक समय मे एक ही विचार काम कर सकता है।

आप यदि अपने मन मे प्रवेश करने वाले हर गलत विचार को रोक सको और उसके स्थान पर सही विचार को ला सको, तो धीरे-धीरे आपका मन इतना सध जाएगा, कि उसमे बुरा विचार प्रवेश ही न पा सकेगा। अभ्यास से सब कुछ हो सकता है। इस काम मे सफल होने के लिए आपको अपनी कल्पना और इच्छा-शक्ति से बहुत सहयोग मिल सकता है। कल्पना मे आप देखिए, कि आप कठिन से कठिन काम को भी बडी आसानी से और किसी प्रकार की व्याकुलता के बिना कर लेते है। अपनी इच्छा-शक्ति के प्रयोग से आप अपनी कमजोरी को दूर करने का प्रयत्न करे।

आप अपने चरित्र-बल का विकास कीजिए और अपने बल पर अपना निर्माण कीजिए। आपके विचारो मे बहुत बडी ताकत है। विचार का सुधार ही सच्चा सुधार है। आचार का सुधार विचार के सुधार पर आधारित रहता है। अपने सकल्प-बल को बढाने का सदा प्रयत्न कीजिए। अपने जीवन मे विचार की ज्योति जलने दीजिए। आप जितना भी कर सकते है, प्रकाश को प्यार कीजिए, फिर अन्धकार तो अपने आप ही भाग जाएगा। विचार मे जीवन मे बहुत बडा परिवर्तन हो सकता है। अपने जीवन की कसौटी कीजिए। नीचे लिखे प्रश्नो मे से जिस प्रश्न

का उत्तर आप स्वीकृति मे दे, वह प्रश्न आपकी कमजोरी बताता है। उसका सुधार कीजिए।

१ क्या आपको क्रोध शीघ्र आता है ?
२ क्या आप शीघ्र बहस मे उतर पडते है ?
३ आप उत्तेजना और घबराहट के शिकार तो नही होते ?
४. क्या आप अपना निर्णय जल्दी मे देते है ?
५ दूसरो की भूल पर आपको हँसी तो नही आती ?
६ क्या अपनी आलोचना आपको बुरी लगती है ?
७. आप काम को बोझा तो नही समझते ?
८ आपका स्वभाव चिडचिडा तो नही है ?
९. क्या आप दूसरो की सुविधा के विषय मे भी कभी सोचते है ?

३

मैत्री-भावना

मनुष्य के मन मे जो विश्व-व्यापी प्रेम की भावना है, उसको मैत्री कहते हैं। मैत्री का जन्म—परस्पर के विश्वास से और अभय की मृदु भावना से होता है। प्रेम और मैत्री—अलग नही है, दोनो एक हैं। फिर भी दोनो मे थोडा अन्तर अवश्य है। प्रेम सजातीय से भी हो सकता है, परन्तु मैत्री मे सजातीयता और विजातीयता का जरा भी भेद नही रहता है। प्राण-प्राण मे जो अपनत्व भाव है, उसी को मैत्री कहते है। प्रेम मे एक सीमा होती है, पर मैत्री मे किसी प्रकार की सीमा को अवकाश नही है। मैत्री सदा असीम होती है।

एक मित्र को दूसरे मित्र से किसी प्रकार का भय नही होता। इसी प्रकार ससार के समस्त जीवो को हम से भय नही रहेगा, जब मैत्री का प्रकाश हमारे जीवन मे प्रकट होगा। जहाँ प्रेम है—वहा विश्वास है, जहाँ विश्वास है—वहाँ अभय है, और

जहाँ अभय है—वहाँ मैत्री-भाव है। प्रेम, विश्वास, अभय और मैत्री—यह सब मैत्री-भाव का विकास-क्रम है।

शत्रुता, जीवन का एक तीव्र शल्य है। शत्रुता का जन्म स्वार्थ से होता है। शत्रुता, जीवन का कलक है। जब तक मन मे शत्रु-भावना रहेगी, मनुष्य कभी भी अपना विकास नही कर सकेगा। शत्रुता, आत्मा का स्वभाव नही है, आत्मा का स्वभाव है—मैत्री। जहाँ प्रकाश है, वहाँ अन्धकार नही रह सकता। इसी प्रकार जहाँ मैत्री है, वहाँ शत्रुता नही रह सकती। जिस मन मे राम का वास है, वहाँ रावण का निवास कैसे होगा? मैत्री, अहिंसा और प्रेम—ये सब मनुष्य-जीवन के दिव्य-भाव है। और वैर, विरोध तथा शत्रुता—ये सब मनुष्य-जीवन के आसुरी-भाव है। आसुरी-भाव का निराकरण ही दैवी-भाव का समादर होगा। स्वार्थ को छोडकर परार्थ की ओर बढना—मैत्री है। मैत्री, जीवन का मधुर वरदान है और शत्रुता, जीवन का भयकर अभिशाप है।

सामाजिक जीवन मे जो बात मैत्री, सद्भावना, प्रेम और अहिंसा से सहज मे की जा सकती है—वह वैर, विरोध और शत्रुता से नही। व्यक्ति को बदलने के दो मार्ग हैं—विरोध और अनुरोध। विरोध, वैर का मार्ग है और अनुरोध, अहिंसा का मार्ग है। मैत्री, कल्याण का रास्ता है और शत्रुता, विनाश का पथ है। जब प्राणि-मात्र मे हम प्रेम-भाव पैदा कर सकेंगे, तभी हम मैत्री-भाव की आराधना कर सकेंगे। मैत्री-भाव ही मनुष्यता का सार-तत्त्व है।

४

चिन्ता और चिता

चिन्ता एक मानसिक रोग है। चिन्ता से मनुष्य का वल, बुद्धि और ज्ञान—सव कुछ नष्ट हो जाता है। चिन्ता-शील व्यक्ति सदा अशान्त, चचल और भयभीत-सा रहता है। चिन्ता एक ससार-व्यापी महारोग है, जो सव देशो के मनुष्यो मे पाया जाता है। वर्तमान काल मे ससार मे जो भय, शोक और विपाद का प्रसार हो रहा है, उसका मूल कारण एक मात्र चिन्ता है। इसमे फँसकर कितने ही मनुष्यो ने अपने स्वास्थ्य को, अपने सौन्दर्य को और अपने बुद्धि-बल को चौपट किया है, और कर भी रहे हैं।

चिन्ता का रोग वहु-व्यापी और भयकर अवश्य है, फिर भी इसकी चिकित्सा की जा सकती है। इस रोग को भगाने के लिए सव से पहले मानसिक साहस की आवश्यकता है। पहले

रोगी के मन का भय दूर करना चाहिए, क्योकि भय की नीव पर ही हर तरह की चिन्ता पनपती है और बढती है। अपने मन को शोध करने पर ज्ञात हो सकता है, कि चिन्ता का स्रष्टा स्वय मनुष्य ही है। चिन्ता का जन्म मनुष्य के मन मे ही होता है। वाहर का वातावरण तो केवल चिन्ता की वेल मे खाद-पानी का काम करता है। जिस किसी मनुष्य के मानस मे चिन्ता जड जमा लेती है, उस मनुष्य के मन मे एक प्रकार की हीन-भावना उत्पन्न हो जाती है, कि वह दूसरो से हीन है, वह दूसरो से तुच्छ है, वह दूसरो से पामर है। वह सोच-विचार आपकी मुसीबतो को वडा बना देता है। मनुष्य जितना सोचता है, मुसीबत उतनी ही वढ जाती है। इस प्रकार मनुष्य चिन्ता के पजे मे फँस कर अपने जीवन को हेय समझने लगता है।

चिन्ता करने से किसी प्रकार का लाभ तो होता नही है, स्वास्थ्य अवश्य विगड जाता है। निरन्तर चिन्ता करते रहने से गुरदे की ग्रन्थि से अधिक मात्रा मे रस निकलने लगता है, और रक्त मे मिल कर उसे दूपित कर देता है। परिणामत शरीर की कान्ति फीकी पड जाती है। त्वचा रुक्ष होकर पीली पड जाती है। सिर मे सदा दर्द रहने लगता है और थकान बनी रहती है। मन्दाग्नि हो जाने के कारण भूख भी नही लगती। भोजन पचता नही, इसलिए रोगी नित्य कमजोर होता चला जाता है। कुछ दिनो मे वह इतना क्षीण हो जाता है कि अपने रोग से लडने की शक्ति भी उसमे नही रह पाती। फिर दुर्वलता के कारण शरीर मे अनेक नए-नए रोग पैदा हो जाते है।

दीर्घ-काल तक चिन्ता करते रहने से मनुष्य का स्नायु-मण्डल भी विकृत हो जाता है। स्नायु-जाल मे विकार हो जाने का परिणाम यहाँ तक भयकर है कि मनुष्य पागल हो जाता है। शरीर की सुन्दरता नष्ट हो जाती है। सिर के बाल पक कर श्वेत हो जाते है। चेहरे पर झुर्रियाँ पड जाती है। सूरत बिगड जाती है। आँखे निस्तेज हो जाती है। चिन्ता का प्रभाव मनुष्य के मस्तिष्क और शरीर पर ही नही, उसके चरित्र और स्वभाव पर भी पडता है। चिन्ता के कारण से मनुष्य के मन का उत्साह मर जाता है। स्फूर्ति चली जाती है। इच्छा-शक्ति कमजोर हो जाती है। तर्क करने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है। चिन्ता-शील व्यक्ति के मन मे सद्विचार और विवेक नही रह पाता।

चिन्ता, चिता के समान है। दोनो मे शब्द-दृष्टि से केवल एक बिन्दु का ही अन्तर है। अर्थ-दृष्टि से अन्तर यह है कि चिता मृत-कलेवर को जलाती है, और चिन्ता जीवित व्यक्ति को जलाती है। चिन्ता एक सक्रामक रोग है। चिन्ता का रोगी चिन्ता बिखेरता फिरता है। अत उसका भयकर परिणाम दूसरो को भी भोगना पडता है। वह अपने प्रसन्न-चित्त मित्रो के मन मे भी अपने उदासी भरे व्यवहार से झुँझलाहट पैदा कर देता है। इस कारण से लोग उसके पास बैठना भी पसन्द नही करते, सदैव बचते रहते है। जहाँ विचार का अन्त होता है, वही से चिन्ता का आरम्भ हो जाता है। चिन्तना, चिन्ता और चिता मे बडा अन्तर रहता है। चिन्तना विचार है, चिन्ता रोग है, और चिता मृत को जलाती है।

माना कि चिन्ता एक भयकर रोग है, पर उससे मुक्त होने

के भी अनेक उपाय है। एकान्त स्थान पर बैठकर विचार कीजिए कि आपके मन मे कितने पकार की चिन्ताएँ है, और वे किस कारण से पैदा हुई है ? उन पर गम्भीरता के साथ विचार कीजिए। अपने मन की चिन्ता को हर किसी के सामने कहने से कोई लाभ न होगा। यदि कोई व्यक्ति सही मायने मे आपका परम मित्र हो, तो अवश्य ही उसके सामने अपनी समस्या को रख सकते हो। भावुकता को दूर करके विचार-बुद्धि से काम लेना चाहिए। कल्पना कीजिए, आपकी चिन्ताएँ इस प्रकार है—

१—एक लडका पढता-लिखता कुछ नही है, वह पास कैसे होगा ?

२—पास मे धन तो है नही, फिर लडकी का विवाह कैसे होगा ?

३—मेरा वेतन तो बढा नही है, फिर इसमे गुजारा कैसे होगा ?

उपर्युक्त चिन्ताएं आपको सदा परेशान रखती हैं। अब, आप क्रमश इन पर विचार कीजिए, खूब सोचिए, और उपयोगी हल ढूंढने का प्रयत्न कीजिए। यदि आप अपनी विचार-बुद्धि से काम लेंगे, तो उनका हल इस प्रकार से निकाल सकेंगे—

१—अपने व्यस्त समय मे से कुछ समय निकाल कर, मै स्वय लडके को प्रेम से पढाने का प्रयत्न करूँगा। उसकी दुर्बलता को दूर करने की कोशिश करूँगा।

२—पास मे धन नही है, यह सत्य है। पर लडकी का विवाह साल-छह महीने बाद मे भी हो सकता है। तब तक

फिजूल-खर्च को घटाकर कुछ धन एकत्र कर लूँगा। अधिक दिखावा न करके थोडे मे ही काम निकालूँगा।

३—वेतन नही बढा, यह सत्य है। पर, क्या चिन्ता करने से मेरा वेतन बढ जाएगा? उसके लिए प्रयत्न करना तो ठीक है, पर चिन्ता करना व्यर्थ है। उससे कुछ लाभ न होगा।

इस प्रकार सोचना और सोच कर कुछ कर गुजरना, चिन्ता से मुक्त होने का मनोवैज्ञानिक मार्ग है। जब निशाना साध लिया है, तो तीर छोड ही दीजिए। अपनी जो शक्ति आप चिन्ता करने मे व्यय करते है, उसे किसी रचनात्मक कार्य मे लगा दीजिए। आपको सफलता अवश्य मिलेगी। आपकी प्रत्येक सफलता, आपकी हरेक चिन्ता को दूर करेगी। आप अपने वर्तमान समय का सदुपयोग कीजिए और भविष्य के लिए आशा बनाए रखिए। मन को सदा स्वस्थ और बलवान् रखिए, फिर चिन्ता कभी आपके पास बुलाने पर भी न आएगी।

५

आशा : मानव की परिभाषा

समार का समस्त व्यवहार आशा पर ही चल रहा है। मनुष्य आगा पर ही जीवित है। विना आशा के मनुष्य एक क्षण भी जीवित नही रह सकता। इसीलिए तो आगा—मानव की परिभापा वन गयी है।

आशा के समान मधुर, प्रिय और प्रेरणा देने वाला अन्य शब्द शब्द-कोप मे नही है। जीवन मे जव आशा का प्रकाश आ जाता है, तब व्यक्ति अपने किसी भी काम मे असफल नही होता। आशा से सफलता प्राप्त करता है, और सफलता फिर उसके मन मे आशा का प्रकाश भर देती है। अत आशा मनुष्य-जीवन के लिए सब से वडी शक्ति है। अवसाद और विपाद के रोग को दूर करने की एकमात्र दवा है—आशा, आशा, आशा! आशा से वढकर मानव के लिए इस धरा पर अन्य क्या वरदान होगा ?

निराशा, मानव-जीवन के लिए एक दारुण अभिशाप है, और आशा, मानव-जीवन के लिए एक सुन्दरतम वरदान है।

कल्पना कीजिए, दो व्यक्ति हैं। दोनो एक साथ ही रोग से आक्रान्त हुए है। एक जल्दी स्वस्थ हो जाता है, और दूसरा दीर्घ-काल तक रोग-शय्या पर पडा-पडा गला करता है। क्या कभी आपने यह विचार किया कि ऐसा क्यो होता है ? मनोविज्ञान इसका उत्तर देता है—एक आशावादी था, जो शीघ्र स्वस्थ हो गया। दूसरा निराशावादी था, जो अपने मन मे यह विश्वास कर चुका था, कि अब मैं स्वस्थ नही हो सकता।

देखा, आपने ! आशा मे कितना वडा चमत्कार है ? आशा, जीवन है। निराशा, मरण। हमारे मन के विचारो का प्रभाव हमारे शरीर पर अवश्य ही पडता है। अत मन मे सदा आशा-मय विचार भरो और निराशामय विचार दूर करो। जव मनुष्य के मन मे यह भावना पैदा होने लगे कि—वह पामर है, वह तुच्छ है, वह छोटा है, तव उसे अपने उस अधेरे मन मे आशा का मधुर दीप जलाना चाहिए। आशा—प्रकाश है, और निराशा—अन्धकार है। निराशा से घिरा इन्सान अपनी जिन्दगी मे कोई वडा काम नही कर सकता।

जिसके जीवन मे आशा का दीप पूरे प्रकाश से जग-मग करता रहता है, निश्चय ही वह मनुष्य बडा भाग्यशाली है। जो व्यक्ति स्वय भी आशामय जीवन व्यतीत करता है, और दूसरो को भी आशामयी प्रेरणा देता है, वह आशा का अग्रदूत है। वह लोगो को आशामय जीवन विताने की कला सिखाता है। जो ससार को आशा का प्रकाश बाँट कर निराशा के अन्धकार को दूर करता है, अवश्य ही वह ससार का महापुरुष है, एक दिव्य पुरुष है।

कुरुक्षेत्र की रण-भूमि मे कौरव-पक्ष की विशाल सेना को देख कर अर्जुन निराश और हताश होकर बैठ गया। परन्तु कृष्ण की आशाभरी और प्रेरणामयी वाणी को सुनकर उसकी मनोभूमि मे आशा का अकुर फूट निकला। वह लडने को तैयार हो गया। अन्त मे अर्जुन को युद्ध मे विजय भी मिली। यह सब आशा का ही दिव्य प्रभाव है, जिसे कृष्ण ने उसके मन मे जागृत की थी।

जैन साहित्य मे वह अमर घटना आज भी ताजा है, जब कि भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य और उनके सघ के सचालक, गणधर इन्द्रभूति गौतम के मन मे भी यह निराशा आ गई थी, कि मुझे मुक्ति नही मिलेगी। मुझे अभी तक केवल-ज्ञान भी नही हुआ। मेरे ही शिष्य जो मेरे हाथो से दीक्षित हुए थे, उनमे से बहुत से केवली हो चुके है। पर, मुझे वह सफलता क्यो नही मिली ? इन्द्रभूति के मन मे इस प्रकार के निराशामय विचार देखकर भगवान् महावीर ने आशाभरी वाणी मे गौतम को सान्त्वना देते हुए कहा था—

"गौतम ! निराश मत बन। तू ने विशाल ससार-सागर को तो पार कर लिया है। अब, किनारे आकर क्यो अटक गया ? इस तीर को भी पार करने का प्रयत्न कर। तुझे सफलता अवश्य मिलेगी। साधना मे क्षण भर का भी प्रमाद मत कर !"

इस आशामयी वाणी का गौतम के मन पर अद्भुत प्रभाव पडा, क्योकि भगवान् की वाणी पर गौतम को अटूट विश्वास था, गहरी आस्था थी।

बुद्ध ने भी बहुत-से निराश व्यक्तियो के जीवन मे आशा का प्रकाश भर कर उन्हे सन्मार्ग पर लगाया। महापुरुष ससार मे आशा का दिव्य प्रकाश लेकर ही आते है। पुत्र मोह से मूढ दशा

को प्राप्त हुई गौतमी को बुद्ध ने आशा का दिव्य प्रकाश देकर उसके जीवन की रक्षा की।

ये सब आशा की चमत्कारमयी गाथाएँ है। आशा मे कितना बल है, कितनी शक्ति है? आशा एक सजीवनी शक्ति है, जिससे निराश व्यक्ति फिर से अपने कर्म मे लगकर सफलता प्राप्त कर लेता है। आकाश जब काले बादलो से घिरा रहता है, तब भी सूर्य की प्रभा संसार को प्रकाश देती ही रहती है। सकट और कष्ट आने पर भी निराशा को अपने मन मे प्रवेश मत होने दो। सदा आशावान् होकर रहो—'जीवन का यही दिव्य पथ है।'

६

अपने को पहचानो, मानव !

अपने जीवन के शान्त-क्षणो मे एकान्त मे बैठकर क्या कभी तुमने इस प्रश्न पर गम्भीरता के साथ विचार किया है कि—"कौन हूँ मै ?"

क्या तुम मिट्टी हो ? नही, तुम मिट्टी होकर भी मिट्टी से महान् हो। क्या तुम जल हो ? नही, तुम जल होकर भी जल से महान् हो। क्या तुम आग हो ? नही, तुम आग होकर भी आग से महान् हो। क्या तुम पवन हो ? नही, तुम पवन होकर भी पवन से महान् हो !

क्यो ? इसलिए कि मिट्टी, पानी, आग और पवन, तत्त्व होकर भी वे जड हैं, परन्तु तुम तो जड से भिन्न एक चेतन तत्त्व हो। एक ज्योति हो, तुम ! एक प्रकाश हो, तुम ! एक भावना हो, तुम ! तुम क्या हो ? लो, सुनो—तुम क्या हो ? तुम अक्षर

हो, तुम अजर हो, तुम अमर हो। तुम वही हो, जो न कभी बनता है, जो न कभी विगडता है।

अपने लिए जितना तुम स्वय सोच सकते हो, तुम्हारे लिए उतना अन्य कोई नही सोच सकता। जितना तुम स्वय अपने आपको पहचान सकते हो, उतना अन्य कोई तुम को पहचान नही सकता। जो स्वय अपने लिए कुछ भी नही सोचता, दूसरा कौन उसके लिए सोचेगा? जो स्वय अपने आप को नही पहचानता, दूसरा कौन उसको पहचानेगा? जो स्वय अपने भाग्य को ठुकराता है, फिर दूसरा कौन उसके भाग्य का आदर करेगा? सत्य यह है, कि हम स्वय ही अपने जीवन का निर्माण करते है, हम स्वय ही अपने भाग्य को चमकाते हैं। सच्चा मनुष्य वही है, जो अपने को पहचानता है।

विश्वास करो, मानव! तुम से महान् इस ससार मे दूसरा कोई नही है। तुम अमृत पुत्र हो। तुम प्रकाश पुञ्ज हो। तुम अनन्त-शक्ति-सम्पन्न हो। इस धरती पर तुम से महान् कौन है? तुम सवसे महान् हो, क्योकि सुर-लोक के देव भी तुम्हारे पावन चरणो की रज को अपने मस्तक पर लगा कर तुम को नमस्कार करते है।

हो सकता है, मेरी वात को सुनकर तुम हँसो और विचार करने लगो, कि मनुष्य मे कौन-सी ऐसी विशेपता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके, कि मर्त्य-लोक का मनुष्य, अमर-लोक के सुरो से भी अधिक पावन और पवित्र है। क्या यह कोरी कल्पना नही है? क्या यह अपने वडप्पन की शेखी वघारना नही है? पर, मै अपनी वात दृढ विश्वास के साथ मे कहता हूँ कि जो काम मनुष्य कर सकता है, उस काम को अमर-

लोक का अमर भी नही कर सकता। देव-जीवन केवल भोग के लिए ही होता है। परन्तु मनुष्य-जीवन मे वह ताकत है कि वह भोग से त्याग की ओर भी जा सकता है। केवल मनुष्य को एक ही काम करना है—अपने को पहचानना है, और अपना अध्यात्म-चमत्कार दुनिया के कोने-कोने मे फैलाना है। जो अपने-आप को पा गया, वह सब को पा गया, और सब कुछ पा गया। इसीलिए तो मैं कहता हूँ—क्या कभी तुम ने यह भी सोचा है—"कौन हूँ मै ?"

तुम अपनी शक्ति को जानते नही, और कभी जानने का प्रयत्न भी नही करते। परन्तु अपने भाग्य को कोसना और भगवान् को दोष देना, तुमको खूब आता है। तुम कहते हो—मेरा भाग्य मेरा साथ नही देता। परन्तु तुम ने अपने भाग्य का साथ कितना दिया है, और कब दिया है। न जाने, कितनी बार तुम्हारा भाग्य तुम को जगाने आया, फिर भी तुम सोते ही रहे। फिर भी तुम अपने भाग्य को कोसते हो ! जो अपने को नही पहचानता, वह अपने भाग्य को कैसे पहचान सकेगा ? और, तुम यह भी रोना रोया करते हो कि भगवान् ने मेरे साथ न्याय नही किया। पर, मै पूछता हूँ—तुमने स्वय अपने साथ कितना न्याय किया है ? और फिर भगवान् है कौन ? तुम स्वय ही तो भगवान् हो। तुम आत्मा हो। जो आत्मा है, वही तो परमात्मा है—"अप्पा सो परमप्पा।"

आप अमीर है, अथवा गरीब। कुछ भी क्यो न हो ? आप मनुष्य है, यही सब कुछ होना है। अपनी उस वर्तमान अवस्था को बदल डालो—जिसमे मुसीबतो की आँधी चल रही हो। मनुष्य के लिए सदा मुसीबत मे रहना, दुर्भाग्य की बात है।

तुम जो कुछ बनना चाहते हो, पूरी इच्छा-शक्ति के साथ उसका सकल्प करो। तुम जो कुछ प्राप्त करना चाहते हो—पूरा प्रयत्न करो, अवश्य प्राप्त करोगे। केवल स्वय को पहचानने की आवश्यकता है। अपने उत्थान और पतन की बागडोर मनुष्य के अपने हाथ मे है। अपने लिए सब से बडी चीज तुम स्वय हो। तुमको कुचलने की ताकत किसी मे नही है, यदि तुम्हारे मन मे ऊपर उठने का वज्र सकल्प है, तो। सफलता का एक ही आधार है—'जीवन का एक लक्ष्य बना लो, फिर फौलादी कदमो से उस ओर चलते रहो, आगे बढते रहो। सफलता जय-माला लेकर तुम्हारी राह निहार रही है। ससार तुम्हारे स्वागत को तैयार है। पर, स्वागत कराने की योग्यता तो अपने मे पैदा करो।

सफलता के महामन्त्र की विधि मै आपको बता रहा हूँ, जरा ध्यान से सुनो, और दृढता से उस पर चलो—

एक शान्त और एकान्त स्थान पर, ध्यान मुद्रा मे तन कर बैठ जाओ। फिर अपने मन मे इस प्रकार की विचार-धारा को प्रवाहित होने दो, उसी प्रवाह मे बढते रहो—

"मै कोन हूँ ? मै अमृत हूँ। मै मनुष्य हूँ। मै सुन्दर हूँ। मै स्वस्थ हूँ। मै बलवान् हूँ। मै विजेता हूँ। मै अनन्त हूँ। मै असीम हूँ। मै सुख, शान्ति एवं आनन्द हूँ।"

प्रतिदिन इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य के मन की प्रसुप्त शक्ति जागृत होती जाती है। मनुष्य धीरे-धीरे अपने आप को पहचानने लगता है। जो अपने-आप को पा गया, वह सब को पा गया। जो अपने-आप को पहचान गया, वह सब कुछ जान गया है।

विश्वास बदला कि विश्व बदल गया। दिशा बदली कि दशा बदल गयी। आपा बदला कि जग बदल गया। जो पाना चाहते हो, वह सब कुछ तो तुम्हारे अन्दर मे ही छिपा हुआ है। उसे पहचानने का प्रयत्न करो।

७

बुद्धि : जीवन का दीपक

मनुष्य के पास यदि बुद्धि है, तो सब कुछ है और यदि बुद्धि नही है, तो सब कुछ होकर भी कुछ नही है। बुद्धि का अर्थ है—ज्ञान और विवेक।

प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन का उपयोग बुद्धि से करना चाहिए। बुद्धि किस के पास नही है ? सब के पास मे है। चेतना जगत् मे मनुष्य से बढकर अन्य कौन बुद्धिमान है ? मनुष्य के पास मे सोचने को बुद्धि है, मनन करने को मन है, विचार को अभिव्यक्त करने के लिए वाणी है और विचार को आचार मे लाने के लिए शरीर है। फिर मनुष्य के पास मे कमी क्या है ? जीवन के प्रत्येक कार्य मे बुद्धि का उपयोग किया जाना चाहिए। पर, मनुष्य बुद्धि का उपयोग बहुत कम कर पाता है। हम प्राप्त-बुद्धि के बहुत थोडे अश का उपयोग करते है।

अपने जीवन को आप अपनी बुद्धि की कसौटी पर कस कर देखिए, कि क्या आप अपने जीवन का उपयोग बुद्धि से, ज्ञान से और विवेक से करते है ? क्या आप अपने खान-पान मे और रहन-सहन मे बुद्धि का प्रयोग करते है ? आप अपने मुँह से -जो कुछ बोलते है, बोलने से पूर्व क्या उसे बुद्धि की तुला पर तोल लेते है ? क्या आप अपने बुद्धि-बल से निराशा को आशा मे, विषाद को हर्ष मे और चिन्ता को उल्लास मे बदल सकते है ? सब से आवश्यक प्रश्न तो यह है कि'—क्या आप विचार करते समय अपनी बुद्धि से काम लेते है ? आप जिन बातो को सुनते है, क्या उन्हे आप बुद्धि की कसौटी पर कसते है ? जब कभी आपके सामने नया प्रश्न या नयी समस्या आती है, तब आप भावुकता की अपेक्षा बुद्धि से काम लेते है ?' भावुकता मे और बुद्धि मे बडा भेद है। भावुकता तो मन की एक बहक है, और बुद्धि है—मन का एक प्रकाश।

बुद्धिमान् अपने वर्तमान जीवन से ही सन्तुष्ट नही रहता, वह अपने भविष्य को शानदार बनाने का भी प्रयत्न करता है, वह अपनी बुद्धि का पूरा-पूरा उपयोग करता है। बुद्धि जीवन का एक प्रकाश है, एक दीपक है। ससार को जिस वस्तु की अधिक से अधिक आवश्यकता है, वह बुद्धि है। ससार मे सद्भावना की कमी नही है। परन्तु, क्योकि लोग अपनी बुद्धि का उपयोग नही करते। अत मनुष्य हर जगह अपने को मुसीबत मे पाता है, आपत्ति और सकट मे पाता है। आज के विश्व की समस्या का समाधान इसी मे है कि—'प्रत्येक व्यक्ति अन्ध-विश्वास और अन्ध परम्परा का परित्याग करके धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओ पर बुद्धि से, गम्भीरता से विचार करे।'

बुद्धि, आत्मा का दीपक है। इस दीपक का प्रकाश कभी धुंधला न पडे, इस बात का सदा ध्यान रखो। इस प्रकाश के विना हमारा जीवन व्यर्थ होगा। हमारा सब कुछ भले ही चला जाए, पर बुद्धि कभी हम से दूर न हो। बुद्धि होगी, तो सब कुछ रहेगा।

८

जावन-शुद्धि के प्रकार

मनुष्य अपने घर को साफ-सुथरा रखता है। कही पर गन्दगी पडी हो, कूडा-कचरा पडा हो और कागज-पत्ते पडे हो, तो वह तुरन्त उनको साफ करने का प्रयत्न करता है। क्योकि अपने घर मे जरा भी गन्दगी उसको पसन्द नही है। घर की गन्दगी को वह अपनी गन्दगी समझता है, उसे अपमान समझता है। साफ-सुथरा और सफेदी से पुता हुआ मकान उसको पसन्द है। साफ मकान—सभ्यता का प्रतीक है।

अपने तन पर गन्दे कपडे भी मनुष्य पसन्द नही करता। मैले-कुचैले कपडे पहनना, वह अपना अपमान समझता है। कपडे स्वच्छ हो, शुद्ध हो, चमकीले हो और सुन्दर हो। मलिन वस्त्र भी मनुष्य को पसन्द नही है। भोजन और जल भी शुद्ध, पवित्र और स्वच्छ होने चाहिए। गन्दा भोजन और गन्दा पानी, वह ग्रहण नही करता। भवन, भोजन और वसन—तीनो स्वच्छ और

साफ हो, तभी मनुष्य उनको पसन्द करता है और ग्रहण करता है।

क्या कभी मनुष्य यह भी विचार करता है कि—उसका मन कैसा है? उसकी वाणी कैसी है? उसका कर्म कैसा है? मन की गन्दगी, वाणी की अपवित्रता और कर्म की मलिनता का क्या कभी मनुष्य विचार करता है? नही करता। परन्तु उसे बाहरी स्वच्छता के साथ-साथ भीतरी स्वच्छता पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। नही तो, तन के उजले, मन के मैले रहने से जीवन का सुधार नही हो सकेगा।

स्वच्छता तीन प्रकार की है—मन की, वाणी की और कर्म की। मन को पवित्र रखो, वाणी को स्वच्छ रखो और कर्म को शुद्ध रखो। मन की स्वच्छता इस प्रकार से रह सकती है—

१. क्रोध न करने से, शान्ति रखने से।
२ मान न करने से, नम्रता रखने से।
३ माया न करने से, सरलता रखने से।
४ लोभ न करने से, सन्तोष रखने से।
५. किसी की निन्दा न करने से।
६. किसी का अपमान न करने से।
७. किसी का बुरा न सोचने से।

मन की स्वच्छता का अर्थ है—'मन मे किसी के भी प्रति राग, द्वेष, ईर्ष्या और बुरा विचार न रखना।'

वाणी की पवित्रता के लिए वाणी का सयम बहुत आवश्यक है। वाणी के सयम से मनुष्य को अनेक लाभ है। परस्पर मे व्यर्थ का क्लेश, व्यर्थ का कलह और व्यर्थ के झगडे नही होते है। वाणी की पवित्रता इस प्रकार से रह सकती है—

१ वाक् सयम से ।
२. अल्प भाषण से ।
३. प्रिय एव सत्य भाषण से ।
४ मधुर भाषण से ।
५ मृदु एव कोमल भाषण से ।

मनुष्य कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है । वह कर्मशील है, क्रियाशील है । आलस्य और प्रमाद का परित्याग करके उसे कुछ न कुछ सत्-कर्म करते ही रहना चाहिए । परन्तु उसके कर्त्तव्य-कर्म मे पवित्रता होनी चाहिए । कर्त्तव्य-कर्म की पवित्रता इस प्रकार रह सकती है—

१ निष्काम-भाव पूर्वक कर्म करने से ।
२ कर्म के फल की आसक्ति न करने से ।
३. शुद्ध रीति-युक्त कर्त्तव्य-पालन से ।
४ विवेक-पूर्वक क्रिया करने से ।

१

जीवन के शत्रु

रोग, जीवन के शत्रु होते है। शरीर के रोग, शरीर को नष्ट करते है और मन के रोग, मन को कमजोर बनाते हैं। शरीर के रोगो का असर मन पर भी पडता है, और मन के रोगो का प्रभाव शरीर पर तो पडता ही पडता है। अत रोग-मात्र हमारे शत्रु है—भले ही वे शरीर के हो और भले ही वे मन के हो। दोनो का उन्मूलन होना चाहिए।

रोगो से भरे इस मानव-जीवन मे अनेक रोग इस प्रकार के है, जिनको हम रोग के रूप मे पहचानते भी नही है, और वे निरन्तर हमारे जीवन को खोखला कर रहे है। वे है—'हरी, बरी और करी।' ये भयकर रोग है, जो मनुष्य के जीवन को चाट जाते है। जीवन का सत्त्व खीच लेते है। जीवन की शक्ति का शोषण कर डालते है। बहुत ही भयकर है, ये रोग। इसीलिए ये मानवता के शत्रु है।

सब से पहला शत्रु है—'हरी' (Hurry) अर्थात्—जल्दबाजी या उतावलापन। यह मनुष्य के मन का एक बहुत भयकर रोग है। यह मनुष्य की बुद्धि, शक्ति और सम्मान का नाश करने वाला है। जल्दी का काम शैतान का होता है। किसी काम को जितने उतावलेपन से किया जाता है, वह सुधरता नही, बल्कि बिगडता है। इसका मूल कारण है—भय, हडबडाहट, घबराहट, अधीरता और उतावलापन—ये सब भय की सन्तान हैं।

क्रम और व्यवस्था, जीवन की सफलता के मूल आधार नियम हैं। हर काम को व्यवस्था से और क्रम से करना चाहिए, भले ही कितनी भी देर क्यो न लगे। मनुष्य यह सोचता है कि जल्दी करने से काम जल्दी हो जाएगा। पर, यह उसका भ्रम है। जल्दबाजी से काम बिगडता ही है, सुधरता नही। जल्दबाज आदमी कही पर भी आदर नही पाता। अत हर काम को क्रम से, धीरे से और धीरता के साथ करे, तब वह सुन्दर होगा।

दूसरा शत्रु है—'वरी' (Worry) अर्थात्—चिन्ता। चिन्ता सब से भयकर मनोरोग है, मनुष्य का। 'चिन्ता' और 'चिता' मे केवल एक बिन्दु का अन्तर है। परन्तु दोनो का काम एक ही है—जलाना। अन्तर इतना ही है, कि चिता मृत कलेवर को जलाती है, और चिन्ता जीवित मनुष्य को ही जला डालती है। अत चिन्ता, चिता के समान है।

बहुत-सी बातें, जिनकी मनुष्य चिन्ता करता रहता है, अनहोनी होती हैं। यदि हो भी जाएँ, तो भी चिन्ता करने से क्या उनका कोई हल निकल सकेगा? कदापि नही! चिन्ता

करने से जीवन और अधिक सकट मे फँस जाता है। चिन्ता को उत्पत्ति भी भय से होती है। चिन्ता को दूर करने मे पूर्व भय को दूर भगाना होगा। 'मै अभय हूँ, मै शान्त हूँ'—इस प्रकार की भावना करने से धीरे-धीरे चिन्ता दूर हो सकती है।

तीसरा शत्रु है--'करी' (Curry) अर्थात्—मिरच और मसाले। मनुष्य के जीवन पर भोजन का गहरा प्रभाव पडता है। उसके शरीर पर भी और उसके मन पर भी। मिरच और मसाले जीवन शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट करते हैं, क्योकि मसाले वहुत गरम और उत्तेजना देने वाले होते है। दिन-रात चटपटी, मसालेदार और खट्टी-मीठी चीजे खाने से अतडियाँ कमजोर हो जाती है और पाचन-क्रिया मन्द पड जाती है। भूख कभी खुल कर नही लगती। लाल मिरच तो ब्रह्मचर्य के लिए वहुत ही भयकर विप है। मसालेदार भोजन से वीर्य का क्षरण हो जाता है। अतः जीवन की रक्षा के लिए 'करी' का, मिरच-मसाले का परित्याग कर देना चाहिए।

जरा साहस के साथ मे 'हरी, वरी और करी'—इन तीन शत्रुओ से युद्ध करो। निश्चय ही वे हारेगे, आप जीतेगे।

१०

मुस्कान : एक कला

किसी की हँसी करना, किसी का मजाक उडाना बुरा है—बहुत बुरा है। परन्तु इससे भी बुरा है—गमगीन रहना, सुस्त रहना। जिस इन्सान के चहरे पर उदासी रहती है, वह अपने काम मे कभी सफल नही होता। जो आदमी रोता हुआ जाता है, वह मरे की खबर लेकर ही लौटता है।

जो मुख सदा गुलाब की तरह हँसता है, उसको सब प्यार करते है। प्रसन्न-मुख व्यक्ति जहाँ कही पर भी पहुँच जाता है, वहाँ पर एक सुन्दर वातावरण पैदा कर देता है। उसके मुख की मुस्कान सब को प्रसन्न कर देती है। गम्भीर और गमगीन वातावरण हँसी-खुशी मे बदल जाता है। मुस्कान एक जादू है, मुस्कान एक कला है। सामाजिक और पारिवारिक जीवन को सुन्दर, मधुर और सरस बनाने के लिए मुस्कान बहुत आवश्यक है।

मानसिक स्वस्थता के लिए सब से आवश्यक है—प्रसन्न-चित्त रहना। प्रसन्न-मुखी व्यक्ति उन लोगो से अधिक सफल रहते है जो सदा ही गम मे एव उदासी मे डूबे रहते हैं। मनुष्य अपने मन का प्रतिविम्व है। जैसा उसका मन रहेगा, वैसा ही उसका चेहरा रहेगा। मनुष्य की सफलता का वहुत कुछ आधार उसकी मानसिक दशा पर है। जीवन जीने की कला का रहस्य है—प्रसन्नता, उल्लास एव मुस्कान।

क्रोध, भय, चिन्ता और ईर्ष्या--ये सव मन के रोग है। इन रोगो से ग्रस्त मन, न कभी स्वस्थ रहेगा और न कभी प्रसन्न। जिस प्रकार शरीर के रोगो से शरीर पीला पड जाता है, उसी प्रकार मानसिक रोगो से मन म्लान हो जाता है। क्रोध, भय, चिन्ता और ईर्ष्या आदि मानसिक रोगो की एकमात्र राम-वाण दवा है--प्रसन्न चित्त रहना, मुस्कराना और मुस्कराहट। मुस्कान एक वह दवा है, जो आपके सुस्त चेहरे पर से उक्त रोगो के निशान ही नही मिटाती, वल्कि उक्त रोगो की जड को भी आपके मन से निकाल देगी।

आप जव कभी अपने किसी स्नेही व्यक्ति से मिलते है, तव केवल आप मुस्करा-भर देते है। जो प्यार एक मुस्कान द्वारा व्यक्त होता है, वह नमस्कार के द्वारा भी नही हो सकता। थका-थकाया व्यक्ति, दिन-भर के श्रम से क्लान्त होकर सध्या को जव घर लौटता है, तव वह अपनी पत्नी की एक मुस्कान पर और अपने प्यारे वच्चो की मुस्कराहट पर अपना सारा श्रम भूल जाता है। जव कोई भाई कोसो की यात्रा करके मार्ग के श्रम से चूर-चूर होकर अपनी वहिन के घर पहुँचता है, और वहाँ अपनी वहिन के चेहरे पर अपने आगमन की मुस्कान देखता है, तव वह अपने

सम्पूर्ण श्रम को भूल कर वहिन के स्नेह मे आत्म-विभोर हो जाता है। यह है, मुस्कान का चमत्कार। जब कोई व्यक्ति किसी की क्रुद्ध दृष्टि से भयाकुल हो सकता है, तव क्या वह किसी की मुस्कान मे प्रसन्न न होगा? क्रोध की अपेक्षा प्रेम का प्रभाव मन पर अधिक गहरा होता है, अधिक प्रभावक होता है। मुस्कराने मे सम्भवत मुश्किल से एक क्षण लगता है, पर उसकी याद जीवन-भर रह जाती है। मुस्कराने मे आपका कुछ खर्च भी तो नही होता, पर जिसे आपकी मुस्कान मिलती है, उसके मन मे आपके प्रति प्रेम का सागर तरगित होने लगता है--अजब ताकत है, आपकी एक क्षण-भर की मुस्कान मे।

जीवन के युद्ध को, जीवन के सघर्षो को मुस्कान से जीतने की कला सीखो। भयकर से भयकर सकट मे भी यदि आप अपनी मुस्कान को अपने मुख पर से गायब नही होने देते है तो निश्चय ही आप अपनी जिन्दगी के वादशाह हैं।

प्रभात वेला मे, जव आप सोकर उठे जागे, तब अपने समस्त परिवार पर मधुर मुस्कान की एक किरण विखेर दीजिए। फिर देखिए, आपको एक साथ कितनी मुस्कराहट मिलती है? पत्नी मुस्करा कर आपका स्वागत कर रही होगी। बच्चे भी मुस्कराहट की किलकारियाँ भर कर आपको प्यार करने के लिए बेताव हो उठेंगे। माता और पिता प्रेम भरे स्वर मे शुभाशी देंगे। भाई और वहिने स्नेह की वौछार करेंगे। घर के दास-दासी आपके कृतज्ञ होकर रहेंगे। आपकी एक मुस्कान ने सारा वातावरण ही वदल डाला।

आकाश के तारे हँसते है। धरती के फूल मुस्कराते है। कोयल कूजती है, पक्षी चहचहाते है। और आप? आप गमगीन होकर

बैठे रहे, सुस्त होकर पडे रहें—इसमे न आपकी शान है, और न आपका मान है। जग हँसता है, हँसने वालो पर। जग रोता है, रोने वालो पर। आपकी मधुर मुस्कान से यदि जग का एक भी पीड़ित व्यक्ति मुस्करा उठा, तो आपका जीवन सफल है।

११

जवानी और बुढ़ापा

हर इन्सान यह चाहता है कि मेरी जवानी सदा बनी रहे, मुझे बुढापा कभी न आए। बुढापा एक रोग है, बुढापा एक भय है और बुढापा एक अमगल है, तभी तो हर इन्सान इससे परेशान है। परन्तु जवानी को सभी प्यार करते है। सभी चाहते है कि वह आकर कभी न लौटे। सब उसको जीवन के लिए मगलमय एव सुन्दर वरदान समझते हैं।

पर, क्या कभी किसी ने विचार भी किया कि जवानी है क्या चीज ? जवानी, जीवन की एक विशेष अवस्था का नाम है। वह समय नही, काल नही, एक अवस्था विशेष है। वस्तुत जीवन को सदा भरा-पूरा अनुभव करना ही—जवानी है। उभरे गाल, लाल ओठ, सुघर बाहे, सुघड देह और काले बाल—मात्र ये ही जवानी नही है, भले ही ये जवानी के बाहरी प्रतीक हो सकते हो।

जवानी इच्छा-शक्ति का एक प्रकार है, कल्पना की एक उडान है, विचारो का एक विशेष वहाव है। जवानी मन की एक ताजगी का नाम है। जवानी का अर्थ—निर्भयता, साहस, कुछ नया कर्म करने और नया रास्ता पकडने की एक धुन। नया-नया अनुभव करने की भूख को जवानी कहते है। इस प्रकार की भूख एक बीस वर्ष के तरुण की अपेक्षा पचास वर्ष के अवेड व्यक्ति मे अधिक तीव्र हो सकती है। समय की धारा—जो प्रतिपल वह रही है, आपके ऊपर से वह जाए और आप बूढे हो जाएँ। क्या यही आपको पसन्द है? नही, ऐसा कभी नही सोचना चाहिए। इन्सान बूढा तव होता है, जब उसमे कोई नया कर्म करने की शक्ति नही रहती।

शरीर का बुढापा उतना भयकर नही होता, जितना मन का होता है। दिल से जोश निकल गया, तो समझिए कि आप बूढे हो चुके है। फिर भले ही आप बत्तीस वर्ष के पूरे नौजवान ही क्यो न हो। फिक्र, परेशानी और हैरानी—इन्सान को समय से पहले ही बूढा बना देती है। चिन्ता, भय, शोक और विषाद के मानसिक बोझ से मनुष्य की गरदन झुक जाती है, कमर की कमान बन जाती है और मन का मोती धूल मे मिल जाता है।

जीवन एक खेल है। कभी हार होती है, तो कभी जीत होती है। हमारे जीवन की सब से बडी कमजोरी यह है कि हम जीत को भुला देते हैं और अपनी हार को सदा याद कर-करके रोया करते है, कल्पना किया करते है। और यही तो बुढापा है। आवश्यकता इस वात की है कि हम अपनी हार को भूलकर अपनी जीत को ही याद रखे।

इस बात को आप सदा याद रखिए कि आपके मन मे जितना यौवन है, आप उतने ही जवान है। आप मे अपनी जवानी के प्रति जितना गहरा विश्वास है, आप उतने ही जवान है। आपका मन जितना शक्तिशाली होगा, आप उतने ही जवान है।

१२

शान्ति : आज के युग की माँग

आज की दुनिया की सबसे पहली और साथ ही सब से वडी माँग है—'शान्ति।' व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र—आज सभी शान्ति की कामना कर रहे है। सम्पूर्ण विश्व मे, आज शान्ति की बात को लोग प्रेम के साथ सुनने को तैयार हैं। परन्तु युद्ध से वे सब नफरत करते हैं। जो राष्ट्र आज युद्ध की बात करता है, उसकी बात को जनता सुनना पसन्द नही करती। इस पर से स्पष्ट है कि आज की जनता युद्ध नही, शान्ति चाहती है। युद्ध का विनाशकारी परिणाम वह देख चुकी है। शान्ति का विकाश अब देखना चाहती है। अत. जनता की माँग है—'शान्ति।'

'शान्ति' की परिभाषा करते हुए एक विद्वान ने लिखा है—

"शान्ति, ज्ञान का एक सुन्दर रत्न है। यह आत्म-सयम मे दीर्घकालीन अभ्यास और प्रयत्न का मधुर फल है। शान्ति, विचार और अनुभव का परिपक्व फल है।"

शान्ति की उपासना करने वाला शान्त व्यक्ति अपने पर शासन करके दूसरो के साथ मे प्रेममय व्यवहार करता है। मनुष्य जितना ही शान्त बन जाता है, उसका प्रभाव उतना ही अधिक बढ जाता है। क्रुद्ध व्यक्ति अपने कठोर आदेश से जो कराना चाहता है, उसकी अपेक्षा शान्त व्यक्ति अपने प्रेम से हजार गुना काम करा सकता है।

शान्ति कहाँ है? महलो वाले शान्ति को झौपडियो मे खोजते है, और झौपडी वाले उसे महलो मे तलाश करते है। गरीब कहता है—शान्ति धन मे है। परन्तु धनवान्, धन पाकर भी उस गरीब से अधिक अशान्त रहता है। सत्ता-हीन समझता है—शान्ति सत्ता मे है। किन्तु सत्ताधीश सत्ता को प्राप्त करके भी उस सत्ताहीन से अधिक अशान्त है।

फिर शान्ति है कहाँ? शान्ति भोग मे नही, सयम मे है। शान्ति विलास मे नही, त्याग मे है। जो व्यक्ति शान्ति की खोज सग्रह मे करते है, उनके हाथ मे विग्रह ही आएगा, शान्ति नही। जीवन मे अहिंसा, विचार मे अनेकान्त और समाज मे अपरिग्रह की भावना आए बिना शान्ति नही मिलेगी।

विचार करने पर यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि शान्ति कहाँ है? शान्ति का निवास कही बाहर नही है, उसका वास तो मनुष्य के मन मे, मनुष्य की बुद्धि मे है। क्रोध आत्मा का विभाव है और शान्ति आत्मा का स्वभाव है। अति-सुख भी मनुष्य को अशान्त करता है, और अति-दुःख भी मनुष्य को परेशान करता है। दोनो का समत्व ही शान्ति का मार्ग है। अभाव मे से अति-दुःख फूटता है, और अति-भाव मे से अति-सुख फैलता है। दोनो मे ही शान्ति का वास नही है। अत. शान्ति के लिए

समभाव की बडी आवश्यकता है। विना समभाव के शान्ति कभी पनप नही सकती। जब जीवन मे समभाव आता है, जब जीवन मे समरसता आती है, तब जीवन के कण-कण से शान्ति का मधुर सगीत झकृत होता है।

शान्ति की उपासना करने वाला व्यक्ति सदा शान्त, मधुर और गम्भीर रहता है। उसके जीवन की तुलना शान्त सागर से, निर्मल चन्द्र से और मरुभूमि के हरे-भरे वृक्ष से की जाती है। शान्ति, जीवन का एक मधुर वरदान है और क्रोध जीवन का एक दारुण अभिशाप है।

शान्ति का अर्थ है—'सहिष्णुता।' परन्तु सहिष्णुता समभाव के विना टिक नही सकती। अत समभाव ही शान्ति का मूल आधार है। जीवन मे जितना समभाव आता है, मनुष्य उतनी ही तेजी से शान्ति की ओर अग्रसर होता है।

१३

शिक्षा और दीक्षा

छात्र-जीवन का विकास दो तत्त्वो पर आधारित है—'शिक्षा और दीक्षा।'

शिक्षा, अर्थात् ज्ञान के अभाव मे जीवन अन्धकारमय है। जीवन का लक्ष्य क्या है? जीवन का उद्देश्य क्या है? यह स्थिर हो जाने पर मनुष्य अपने सत्प्रयत्न से अपने लक्ष्य पर भी जा पहुँचता है। लक्ष्य स्थिर करना – यह शिक्षा है, और उस लक्ष्य पर पहुँच जाना –दीक्षा है।

आप छात्र है। आप अपने जीवन के राजा है। अपने जीवन के स्वय निर्माता है। अपना उत्थान और पतन, अपना विकास और ह्रास, अपनी उन्नति और अवनति—आपके अपने हाथ मे है। आप राष्ट्र की आशा है। आप समाज की शक्ति है। आप अपने परिवार के मधुर स्वप्न हैं। माता के दुलारे, पिता के लाडले और भाई-बहिनो के सच्चे सहयोगी हैं।

शिक्षा से आप विनम्र बने और दीक्षा से कर्मठ एव कठोर। कर्त्तव्य-पालन मे कठोर, चटटान से भी कठोर बने। दूसरो की सेवा मे विनम्र बने, और कुसुम से भी कोमल। जीवन मे नम्रता और सहिष्णुता—दोनो गुणो के विकास की आवश्यकता है।

जीवन को सरस, सुन्दर एव मधुर बनाने के लिए आपको निम्नाकित तीन सूत्रो पर गम्भीरता से विचार करके तदनुकूल जीवन व्यतीत करना चाहिए—

१—मातृ-देवो भव,

२—पितृ-देवो भव,

३--आचार्य-देवो भव।

उपर्युक्त तीनो सूत्रों का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१—**मातृ देवो भव**—माता की सेवा करना, माता की आज्ञा का पालन करना, और माता की भक्ति करना।

२—**पितृ देवो भव**—पिता की सेवा करना, पिता के आदेश का पालन करना, और पिता की भक्ति करना।

३—**आचार्य देवो भव**—अपने अध्यापक के अनुशासन का पालन करना, अपने शिक्षक की शिक्षा को मानना, और अपने अध्यापक के आदेश का पालन करना।

आप अपने जीवन मे विचार और आचार—दोनो का समान भाव से विकास करो। ज्ञान का प्रकाश और आचार की शक्ति लेकर जीवन-समर मे जूझ पडो। आगे बढने के लिए साहस, और मोर्चे पर डटे रहने के लिए दृढता—आपके मन के कण-कण मे समा जानी चाहिए।

सुखी होना आपका अधिकार है, परन्तु दूसरो के दुःख पर अपने सुख-प्रासाद की नीव न डालो। अपना विकास करो, परन्तु दूसरो को हानि पहुँचा कर नही। आगे अवश्य बढो, परन्तु अपने साथियो को गर्त मे गिराकर नही।

आप स्वय भी सुखी बनो, अपने साथी-सगियो को भी सुखी बनाओ। सेवा, सहयोग और सहानुभूति—इन तीन बातो पर अवश्य ही ध्यान दो। इससे आपको महान् बल मिलेगा।

आपकी 'शिक्षा और दीक्षा' का यही सार तत्त्व है।

१४

मनुर्भव मनुष्य

मानव-जीवन मे धर्म एक मुख्य वस्तु है। धर्म के अभाव से मनुष्य की क्या स्थिति होगी? जब तक मनुष्य मे मनुष्यत्व नही, तब तक वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी कैसे हो सकता है! मान लीजिए, वह स्वय अपने-आप को मनुष्य कह बैठे। पर आप उसे क्या कहेगे? पशु या कुछ और!

आपके सम्मुख दो बरतन रखे है—एक मे जल है, और दूसरे मे आग। यदि आप से कोई पूछे कि दोनो बरतनो मे क्या है, तो आप क्या उत्तर देगे? यही कि इसमे जल है, और इसमे आग। मै आप से पूछता हूँ कि आप आग को आग क्यो कहते है, जल या और कुछ क्यो नही कह देते? इसी प्रकार जल को जल क्यो कहते है, उसे आग क्यो नही कह देते?

आप कह सकते है कि आग मे उष्णत्व है, इसलिए हम उसे आग कहते है। इसी प्रकार जल मे शीतलत्व है, अत हम उसे जल

कहते है। परन्तु मै पूछता हूँ कि यदि आग मे से उष्णत्व निकल जाए, तो क्या आप उसे आग कह सकेगे ? नही। क्योंकि हम उसे आग तभी तक कह सकते है, जब तक उसमे उष्णत्व-धर्म मौजूद है। इसी प्रकार जब तक जल मे शीतल-धर्म है, तभी हम उसे जल कहते है।

अस्तु, विना धर्म के वस्तु की स्थिति नही रह सकती। विश्व के सभी पदार्थ यदि अपने-अपने धर्म से रहित हो जाएँ, तो क्या विश्व स्थिर रह सकेगा ? नही, कदापि नही। इसलिए विश्व की स्थिति के लिए धर्म अनिवार्य ठहरा।

अब रही, मनुष्य की वात। यदि मनुष्य मे मनुष्यत्व नही है, तो क्या हम उसे मनुष्य या मानव कह सकेगे ? नही, कदापि नही। विश्व मे असख्य मनुष्य है। पर, क्या उन सब मे मानवता या मनुष्यता विद्यमान है ? यदि हाँ तो फिर यह खून की होली किस लिए खेली जा रही है। क्या मनुष्यता का यही लक्षण है कि हम राज्य-लिप्सा के लिए या कुछ अपने स्वार्थो के लिए निरीह मनुष्यो का खून वहा दे। हमारे कुछ भाई तो आनन्द और उल्लासपूर्ण जीवन विताएँ, और लाखो या करोडो मानसिक एव शारीरिक व्याधियो से अभिभूत होकर यमराज का आतिथ्य अगीकार करें ?

यह भी कोई मानवता है। यदि आज की दुनिया मे मानवता का यही मूल्य है, तो इस मानवता से तो वह पशुता ही भली, जिसमे परस्पर स्नेह-सरिता की पावन धाराएँ वह रही हो। श्वान भी कुछ दिनो के परिचय के वाद अपने साथी की जीवन-यात्रा मे वाधक नही वनता। इधर इन प्रभुत्वाभिमानी मनुष्यो

को देखिए, जो अपने स्वार्थ के लिए सहोदर का भी गला काटने मे नही हिचकिचाते ।

एक दिन ऋषि ने—एक वैदिक ऋषि ने अपना हृदय शब्दो मे उँडेल कर कहा था—"मनुर्भव मनुष्य ।" ओ, मनुष्य, तू मनुष्य वन जा ! भगवान् महावीर ने भी एक दिन लाखो मनुष्यो के वीच मे कहा था—"माणुमक्ख सुदुल्लह ।"अर्थात्—'मनुष्य वनना वडा दुर्लभ है ।' पर, यह क्यो ? क्या वे लाखो या करोडो मनुष्य, मनुष्य नही थे ! क्या आज भी विश्व मे—इस अरवो के विश्व मे मनुष्यो की कमी है ! फिर—"ओ, मनुष्य, तू मनुष्य वन जा ! मनुष्य वनना वडा दुर्लभ है ।" यह उद्घोपणा क्यो ? इसमे रहस्य क्या है ?

इसका यही रहस्य है कि—मानव, तू अपने मानवत्व-धर्म को पहचान ! मानवत्व या मनुष्यत्व-धर्म के विना मानव या मनुष्य कैसा ? हाथ-पैरो से या शरीर से मनुष्य होना, एक वात है और हृदय से मनुष्य वनना दूसरी । इस दुनिया मे जो अपने को आज सभ्य समझते हैं—हृदय से कितने मनुष्य है ? उनमे मनुष्यत्व कहाँ तक है ? आज की दुनिया मे शरीर से तो अरवो या इससे भी अधिक मनुष्य मिल सकते है । परन्तु वास्तविक मनुष्य, जिसमे मनुष्यत्व रहा हुआ है—कितने है ? वहुत कम ! लाखो मे से दो-चार ही मिलेगे । इसीलिए तो भगवान् महावीर ने कहा है कि—"मनुष्य वनना वडा दुर्लभ है ।" यह उद्घोपणा विल्कुल सत्य है ।

अस्तु, मनुष्य को वास्तविक मनुष्य वनने के लिए, भगवान् महावीर ने सव से पहले चार वातें सीख लेना आवश्यक वतलाया है । ये चार शिक्षाएँ मनुष्यत्व की प्राप्ति के लिए अनिवार्य साधन

है। बिना इनके मनुष्य मे मनुष्यत्व आना असम्भव है। वे चार शिक्षाएँ ये है—

१ प्रकृति-भद्रता—सहज सौम्यता, अर्थात्—जीवन को इतना सरस एव सुन्दर बनाना जिसमे छल, कपट और वचना न हो। किसी के साथ विश्वासघात या धोखा नही करना।

२ प्रकृति-सरलता—सब के साथ मधुर एव प्रिय भाषण करना। किसी के प्रति कटु व्यवहार न करना। किसी के साथ ऐसा व्यवहार नही करना, जिससे उसको कष्ट हो।

३ सानुक्रोशता—अनुकम्पा, अर्थात् - दीन–दुखियो के प्रति सहानुभूति या दया-भाव रखना। किसी भी निरपराधी मनुष्य को दु ख न पहुँचाना। सब के साथ आत्मीय-जनो जैसा सद्-व्यवहार करना। पर-सेवा के लिए सदा तत्पर रहना।

४. अमत्सरता—निरभिमानता, अर्थात्–अपनी बुद्धि, विद्या या बल का अहकार न करना। अहकार से अपने सगी-साथियो का तिरस्कार न करना। उन्हे हीन-दृष्टि से न देखना। अपने को ऊँचा और दूसरो को नीचा न समझना। अपने आप को विद्वान् और दूसरो को मूर्ख न समझना।

अपने जीवन को सरस, सुन्दर और आकर्षक बनाना ही सच्ची मनुष्यता है। सच्चा मानव बनने के लिए यह आवश्यक है कि है कि हम अपने हृदय को विराट् एव उदार बनाएँ। परिवार, समाज और देश के हितो का दुरुपयोग स्वय न करे और करने वालो से उनकी रक्षा करे। स्वय जीवित रहें और दूसरो के जीवन मे सहायक बने। सन्त फ्राँसिस के शब्दो मे मानवता की परिभाषा सुनिए—

"भगवान्, दया करके मुझे यह शक्ति दे कि किसी को मै कष्ट न दूं। लोग मुझे समझें, इसकी जगह मैं ही उन्हे समझूं। इसके बजाय कि लोग मुझे प्यार करें, मै ही उन्हे प्यार करना सीखूं। द्वेष की जगह मुझे प्रेम के बीज बोने दे। अत्याचार के बदले मे क्षमा, सन्देह के बदले मे विश्वास, निराशा के स्थान पर आशा, अन्धकार की जगह प्रकाश और विषाद की भूमि मे आनन्द करने की शक्ति मुझे प्रदान कर, जिससे मैं दूसरो का भला करूं।"

अन्त मे हम यही कहेगे कि सच्ची मनुष्यता प्राप्त करने के लिए हमे प्रभु से इन शब्दो मे प्रार्थना करनी होगी—

"खुश रहना खुश रखना, जीना और जिलाना।
नाथ! मेरे जीवन का—बस, एक यही हो गाना॥"

१५

चारित्र-बल

मनुष्य का स्वभाव न तो अपने-आप अच्छा होता है, और न बुरा। जैसा वातावरण होता है, वैसा ही उसका स्वभाव बनता है और विगडता रहता है। मनुष्य के स्वभाव-निर्माण में और चारित्र-निर्माण मे उसका सकल्प एव उसकी इच्छा-शक्ति का वहुत वडा हाथ रहता है। मनुष्य के जीवन की विशेषता उसके अच्छे चारित्र विकास में है। 'चारित्र' शब्द का अर्थ वहुत व्यापक एव विशाल है। इसमे समस्त मानवीय सद्‌गुणो का समावेश हो जाता है। त्याग, तपस्या, वैराग्य, सहिष्णुता, कर्त्तव्य और प्रेम आदि अनेक गुणो का परिवोध 'चारित्र' शब्द से सहज हो जाता है।

यदि मनुष्य मे चारित्र नही है, तो सव कुछ होते हुए भी वह खोखला है। ज्ञान जव क्रिया मे उतरता है, तव वह चारित्र वनता है। आचार-हीन विचार कभी-कभी वहुत भयकर सिद्ध होता है।

जो तत्त्व मनुष्य-जीवन को पशु जीवन से भिन्न करता है, उसे चारित्र कहते है। चारित्र, सदाचार और आचरण—इन सब का एक ही अर्थ है। चारित्र को तेजस्वी बनाने के लिए मनुष्य को आत्म-शोधन और आत्म-परीक्षण की बहुत बडी जरूरत है। चारित्र-शील व्यक्ति सदा निर्भय रहता है। उसके मन मे किसी प्रकार का भय नही होता। क्योकि भय का जन्म पाप से होता है, चारित्रवान् मनुष्य पाप से विमुक्त रहता है।

एक मनुष्य बहुत दान करता है, परन्तु जितना वह दान करता है, उससे भी बहुत अधिक वस्तु उसके पास बच रहती है। दूसरा व्यक्ति बहुत थोडा देता है, किन्तु उसके पास इसके सिवा अन्य कुछ भी नही बचा है। निश्चय ही एक ने बहुत देकर भी कुछ नही दिया, और दूसरे ने थोडा देकर भी सब कुछ दे डाला है। त्याग का सम्बन्ध वस्तु से नही, मनुष्य की भावना से है। दान और त्याग—चारित्र के मुख्य अग है।

आपने इतिहास मे पढा होगा कि राणा प्रताप ने कितने कष्ट सहन किए थे। यह चारित्र-बल का ही प्रभाव था कि राणा प्रताप जीवन-भर वन, पर्वत और जगलो मे घूमते और धूल छानते रहे, कष्ट उठाते रहे, पर अपने आदर्श को नही छोडा। राजपूताने की हजारो नारियाँ जौहर कुण्ड मे कूद कर मर गई, पर उन्होने अपना सतीत्व नही छोडा। गुरु गोविन्द सिंह के जीवित पुत्रो को दीवार मे चिन दिया गया, पर उन्होने अपना धर्म नही छोडा। आखिर, यह सब क्या है ? यह सब आत्म-बल है, और यह चारित्र के पालन से ही आता है। चारित्र निष्ठ व्यक्ति सत्ता, सम्पत्ति और सम्मान—सब कुछ छोड सकता है, पर चारित्र को वह कभी नही छोड सकता।

चारित्र-बल ही मनुष्य सस्कृति का ज्योतिर्मय दीपक है, जिससे मनुष्य का जीवन आलोकित रहता है। चारित्र ही मनुष्य को असत्य से हटा कर सत्य की ओर, अन्धकार से हटाकर प्रकाश की ओर, तथा मरण से हटाकर अमरता की ओर ले जाता है।

एक मनुष्य जानता बहुत कुछ है, पर उसके अनुसार आचरण नही कर सकता। दूसरा जानता तो बहुत थोडा है, पर जितना जानता है, उतने को आचरण मे उतारने का प्रयत्न करता है। दोनो मे श्रेष्ठ कौन है? निश्चय ही जो ज्ञान को क्रिया मे ढालता है, जो विचार को आचार मे ढालता है। मनुष्य अपने जीवन मे जो भी महान् कार्य करता है, उसकी सफलता उसके चारित्र-बल पर ही आधारित है।

१६

जीवन : एक कला

सौन्दर्य क्या है, और उसका अनुभव हम किस प्रकार कर सकते है ? इसके बारे मे भिन्न-भिन्न विचार हो सकते है। परन्तु हमे विचारो के भ्रम-जाल मे न फँस कर सूक्ष्म-बुद्धि से सौन्दर्य के महत्व को समझना है।

वास्तव मे सौन्दर्य एक अनोखा तत्त्व है, जो हमारे चित्त को आकर्षित करता है। सौन्दर्य केवल आँखो से देखने की दर्शनीय वस्तु ही नही है, बल्कि वह सूर्य की किरणो की तरह जग-जीवन के हरेक पहलू को सूक्ष्मता से स्पर्श भी करता है।

सौन्दर्य मे यह शक्ति है, कि वह मानव-चित्त पर अपने प्रभाव की अमिट छाप लगाता है, और इसीलिए सौन्दर्य का प्रभाव प्राणि-मात्र पर इतना होता है कि वह किसी भी हालत मे उसकी उपेक्षा नही कर सकते। सौन्दर्य मे वह दिव्य-चमत्कार होता है कि वह मुरझाए मन को भी एक पल मे उसी प्रकार

नव-चेतना देकर उल्लासपूर्ण बना देता है, नयी तरंग भर देता है, जिस प्रकार से एक बुझते हुए दीप को स्नेह-दान पुन विकसित करता है।

अपने अनुपम गुण के कारण सौन्दर्य एक सात्विक-तत्त्व है। वह अन्धकार नही, प्रकाश है। वह वासना का प्रेरक नही, शाश्वत प्रेम का प्रतीक है। आज की भौतिकवादी धारणा और आधुनिकता के अनुराग-वश जो सौन्दर्य को वासना का प्रेरक मानते है, उनकी मान्यता रूप-दर्शन तक ही मर्यादित है।

इसके विपरीत जो सौन्दर्य को गुण-ग्राही दृष्टि से देखते है, उनकी मान्यता के अनुसार सौन्दर्य भोग-लिप्सा को सहन नही कर सकता, क्योकि वासना-जन्य भोग सौन्दर्य के गुण-धर्म के विपरीत है। सौन्दर्य का विकास—पवित्रता, उदारता और पूजनीय भावो मे ही सम्भव है। सौन्दर्य का यह दिव्य-रूप विश्व-कल्याण के सवर्धन मे और मानव-मात्र का उत्थान करने मे समर्थ एव मगलमय सिद्ध होता है।

समस्त कलाओ का मूल—सौन्दर्य है। सौन्दर्य-तत्त्व की उद्दीपन शक्ति के बिना विश्व मे किसी भी कला का सृजन सभव नही है। स्थिति, काल और अवसर पाकर सौन्दर्य-तत्त्व ने अनेक महा-पुरुषो को दिव्यत्त्व प्रदान किया है। विश्व-वन्द्य बापू मे हृदय की कोमलता और उदारता के रूप मे सौन्दर्य की जो उद्भावना हुई, उसने क्रूर राजनीति मे भी विश्व-कल्याण के लिए मानव को अहिसा का अजस्र अस्त्र दिया और हँसते-हँसते अपने वक्ष स्थल मे गोली खाने मे भी यशस्वी और तेजस्वी हो सके।

सौन्दर्य स्वभावत लज्जाशील होता है। सौन्दर्य का विकास और समपर्ण वही सम्भव है, जहां उसे निश्चल और निर्विकार

१६

जीवन : एक कला

सौन्दर्य क्या है, और उसका अनुभव हम किस प्रकार कर सकते है ? इसके बारे मे भिन्न-भिन्न विचार हो सकते हैं। परन्तु हमे विचारो के भ्रम-जाल मे न फँस कर सूक्ष्म-बुद्धि से सौन्दर्य के महत्व को समझना है।

वास्तव मे सौन्दर्य एक अनोखा तत्त्व है, जो हमारे चित्त को आकर्षित करता है। सौन्दर्य केवल आँखो से देखने की दर्शनीय वस्तु ही नही है, बल्कि वह सूर्य की किरणो की तरह जग-जीवन के हरेक पहलू को सूक्ष्मता से स्पर्श भी करता है।

सौन्दर्य मे यह शक्ति है, कि वह मानव-चित्त पर अपने प्रभाव की अमिट छाप लगाता है, और इसीलिए सौन्दर्य का प्रभाव प्राणि-मात्र पर इतना होता है कि वह किसी भी हालत मे उसकी उपेक्षा नही कर सकते। सौन्दर्य मे वह दिव्य-चमत्कार होता है कि वह मुरझाए मन को भी एक पल मे उसी प्रकार

नव-चेतना देकर उल्लासपूर्ण बना देता है, नयी तरंग भर देता है, जिस प्रकार से एक बुझते हुए दीप को स्नेह-दान पुनः विकसित करता है।

अपने अनुपम गुण के कारण सौन्दर्य एक सात्विक-तत्त्व है। वह अन्धकार नहीं, प्रकाश है। वह वासना का प्रेरक नहीं, शाश्वत प्रेम का प्रतीक है। आज की भौतिकवादी धारणा और आधुनिकता के अनुराग-वश जो सौन्दर्य को वासना का प्रेरक मानते हैं, उनकी मान्यता रूप-दर्शन तक ही मर्यादित है।

इसके विपरीत जो सौन्दर्य को गुण-ग्राही दृष्टि से देखते है, उनकी मान्यता के अनुसार सौन्दर्य भोग-लिप्सा को सहन नहीं कर सकता, क्योंकि वासना-जन्य भोग सौन्दर्य के गुण-धर्म के विपरीत है। सौन्दर्य का विकास—पवित्रता, उदारता और पूजनीय भावो मे ही सम्भव है। सौन्दर्य का यह दिव्य-रूप विश्व-कल्याण के संवर्धन मे और मानव-मात्र का उत्थान करने मे समर्थ एवं मंगलमय सिद्ध होता है।

समस्त कलाओ का मूल—सौन्दर्य है। सौन्दर्य-तत्त्व की उद्दीपन शक्ति के बिना विश्व मे किसी भी कला का सृजन संभव नहीं है। स्थिति, काल और अवसर पाकर सौन्दर्य-तत्त्व ने अनेक महा-पुरुषो को दिव्यत्त्व प्रदान किया है। विश्व-वन्द्य बापू मे हृदय की कोमलता और उदारता के रूप मे सौन्दर्य की जो उद्भावना हुई, उसने क्रूर राजनीति मे भी विश्व-कल्याण के लिए मानव को अहिंसा का अजस्र अस्त्र दिया और हँसते-हँसते अपने वक्ष स्थल मे गोली खाने मे भी यशस्वी और तेजस्वी हो सके।

सौन्दर्य स्वभावत लज्जाशील होता है। सौन्दर्य का विकास और समर्पण वही सम्भव है, जहाँ उसे निश्चल और निर्विकार

स्नेह का दान मिलता है, जिस प्रकार व्रज की गोपियो को श्रीकृष्ण के स्नेह का दिव्य-दान मिलता रहता था। सौन्दर्य की कोई सीमा नही, वह एक व्यापक तत्त्व है। सौन्दर्य निखिल निसर्ग की सुषुमा है। तारो मे प्रकाश, फूलो मे रग और सुरभि, बच्चो मे प्रफुल्लता, नारी मे कोमलता और लज्जा, नर मे कठोरत्व और वीरत्व-भाव, ज्ञानी मे विचार-गाम्भीर्य, योगी मे कुशलता और साधक मे साधकत्व तथा तरुण जनो मे सौष्ठव—सौन्दर्य ने अपना साम्राज्य जगती के कण-कण मे बिखेर रखा है, और अणु-अणु मे उसकी छवि छिटक रही है। सौन्दर्य का साम्राज्य प्रकाश से भी आगे तक फैलता है। सौन्दर्य सुमन की सुरभि सृष्टि मे सर्वत्र है, देखने के लिए कला के नेत्रो की आवश्यकता है।

१७

स्वस्थता के आधार

मनुष्य का सबसे बड़ा धन है—उसका स्वास्थ्य, उसका आरोग्य। यदि मनुष्य निर्धन होकर भी स्वस्थ है, तो वह अपने जीवन मे सुखी रह सकता है। परन्तु यदि मनुष्य धनवान् होकर भी रुग्ण रहता है, तो वह दु:खी है। सबसे बडा सुख स्वस्थता ही है। स्वास्थ्य और आरोग्य से बढकर और कौन-सा सुख है? यदि स्वस्थता नही है, तो उपभोग की समस्त वस्तुएँ भी व्यर्थ है।

मन और तन का सहज विकास और अपने नियत कार्य करने की शक्ति का नाम ही तो आरोग्य एव स्वास्थ्य है। तन आत्मा का घर है। शरीर के भीतर मन की अद्भुत शक्ति, प्राण-शक्ति और आत्म-शक्ति विद्यमान है। अत शरीर का स्वस्थ रहना आवश्यक है। शरीर जितना स्वस्थ रहेगा, मन और आत्मा भी उतने ही स्वस्थ और प्रसन्न रहेगे। "बलवति शरीरे बलवान् आत्मा"—'बलवान् शरीर मे आत्मा भी बलवान् होगा।'

आत्मा की शक्ति की अभिव्यक्ति मन और तन के माध्यम से ही होती है। धर्म-साधना का आधार भी तो यह तन ही है। चिन्तन का आधार मन है। अत चिन्तन के लिए मन का और धर्म-साधना के लिए तन का स्वस्थ रहना बहुत ही आवश्यक है, स्वस्थता परम धर्म है।

मन की स्वस्थता के आधार तीन हैं—प्रसन्नता, शान्ति, और स्थिरता। मन मे सदा प्रसन्नता रहे, मन मे सदा शान्ति रहे, और मन मे सदा स्थिरता-एकाग्रता रहे, तो मन स्वस्थ रह सकता है। काम, भय और चिन्ता—ये मन की प्रसन्नता का अपहरण करते है। क्रोध, मान और ईर्ष्या—ये मन की शान्ति को भग करते है। हीन-भाव, शोक और वासना—ये मन की स्थिरता-एकाग्रता को नष्ट करते है। मन को स्वस्थ रखने के लिए उक्त विकारो को नष्ट करना ही होगा, तभी मन स्वस्थ रह सकेगा। स्वस्थ मन की क्रियाओ का तन पर भी बहुत अच्छा प्रभाव पडता है।

तन की स्वस्थता का आधार है—आहार और विहार। आहार का अर्थ है—भोजन, और विहार का अर्थ है—रहन-सहन। मनुष्य क्या खाता है ? कितना खाता है ? कब खाता है ? इस सम्बन्ध मे वैद्यक ग्रन्थो मे कहा गया है कि जो मनुष्य हितभुक् और मितभुक् रहता है, वह कभी वैद्य के द्वार पर नही जाता है, क्योकि तन के रोग अधिकाशत भोजन से उत्पन्न होते है। परन्तु जो व्यक्ति पथ्य-भोजन और अल्प-भोजन करता है, वह कभी बीमार ही क्यो पडेगा ? और उसे वैद्य के घर जाने की आवश्यकता भी क्यो पडेगी ?

सोमदेव सूरि ने भी अपने एक ग्रन्थ मे कहा है—"यो मितं

भुङ्क्ते, स वहु भुङ्क्ते।" जो कम खाता है, वह वहुत खाता है। परिमित भोजन करने वाला व्यक्ति स्वस्थ रहता है, वलवान् रहता है और दीर्घ-जीवी रहता है।

भगवान् महावीर ने भोजन-सयम पर वहुत वल दिया है। उन्होने कहा है कि साधक को मात्रज्ञ होना चाहिए, अपने भोजन का परिमाण जानने वाला होना चाहिए। 'मिय कालेण भु जए। समय पर और थोडा भोजन करे। जो व्यक्ति 'सूर्य-प्रमाण भोजी' होता है, सुवह से शाम तक चरता ही रहता है, वह आत्म-साधना नही कर सकता।

वुद्ध ने भी भोजन-सयम के विषय मे कहा है कि—"जो व्यक्ति अपने भोजन की मात्रा का परिज्ञान नही रखता है—उसके मन की वुरी वृत्ति उसको वैसे ही पीडित करती है, जैसे दुर्वल वृक्ष को पवन। भोजन भट्ट को काम आकर दवा लेता है।"

भोजन-सयम के विषय मे गाधी जी ने भी कहा था—"मेरे आश्रम मे प्रवेश करने वाले के लिए मेरी सब से पहली शर्त है—रसना-सयम। अपनी जवान पर कावू करना।" जवान मनुष्य को चटोरा और वक्कड वना सकती है। अतः जवान पर कावू रहना ही चाहिए।

मदिरा पीने से, मांस खाने से, अण्डा चवाने से और अन्य प्रकार के तामस पदार्थो के भक्षण से तथा पान करने से मनुष्य स्वस्थ नही रह सकता। तामस पदार्थ मन की शक्ति और तन की ताकत को नष्ट करते है। अत स्वस्थता लाभ लेने वाले लोगो को उक्त प्रकार के तामस पदार्थो का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

तामस पदार्थो की तरह ही राजस पदार्थ भी स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते है। मिरच-मसाले, खटाई-मिठाई और चटनी

आदि सब राजस पदार्थ है। उक्त पदार्थ तामस की तरह निन्दा के योग्य तो नही है, फिर भी स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाले तो है ही।

सात्त्विक पदार्थों के भक्षण से, पान से और सेवन से तन को ताकत मिलती है और मन को स्फूर्ति मिलती है। घृत, दुग्ध, दधि और तक्र आदि सब सात्त्विक पदार्थ है। हरी सब्जी भी सात्त्विक पदार्थ मानी जाती है।

युवक के रहन-सहन का प्रभाव भी उसके स्वास्थ्य पर पड़ता है। अत मनुष्य का रहन सहन भी सीधा-सादा होना चाहिए। तभी वह स्वस्थ एव प्रसन्न रह सकता है।

१८

श्रमण-संस्कृति का सार

श्रमण-सस्कृति आत्मा की सस्कृति है। आत्मा के सस्कार को, मन के परिमार्जन को और बुद्धि के प्रक्षालन को श्रमण-धर्म मे, श्रमण-विचारधारा मे और श्रमण-सस्कृति मे वडा महत्त्व दिया गया है। वाहरी जीवन की अपेक्षा उसने भीतरी जीवन को सभालने का अधिक काम किया है। वह साधक को भोग से योग की ओर, विलास से वैराग्य की ओर तथा प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर ले जाती है।

श्रमण का अर्थ है—तपस्या करने वाला साधक। जैन का अर्थ है—जीतने वाला। किस को जीतने वाला? अपने मनोविकारो को। काम, क्रोध, और मोह अथवा राग द्वेष और मोह—ये आत्मा के विकार है। उक्त दोषो के सस्कार करने को 'सस्कृति' कहते है।

जो तपस्वी होगा, वह विजेता अवश्य होगा, और जो विजेता होगा, वह तपस्वी अवश्य होगा। श्रमण-संस्कृति का सार है—अहिंसा। अहिंसा वह महान् विचार है, जो आज विश्व की शान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाई देने लगी है।

श्रमण-संस्कृति का महान् सन्देश है कि—कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रहकर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए और जिन लोगो से खुद को काम लेना है या जिनको देना है, उनके हृदय मे अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने समाज मे अपनेपन का भाव पैदा न करेगा, जब तक दूसरे लोग उसको अपना आदमी न समझेंगे और वह भी दूसरो को अपना आदमी न समझेगा, तब तक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। एक-दूसरे का आपस मे अविश्वास ही विनाश का कारण बना हुआ है।

भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रो मे परस्पर होने वाले युद्धो का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है। उनका आदर्श है कि धर्म-प्रचार के द्वारा ही विश्व-भर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे यह जँचा दो कि वह 'स्व' मे ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। 'पर' की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है—दूसरो के सुख-साधनो को देखकर लालायित होना और उन्हे छीनने का दुस्साहस करना।

श्रमण-सस्कृति का अमर आदर्श है कि—प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही उचित साधनो का सहारा लेकर उचित प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख सामग्री का सग्रह कर रखना, चोरी है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र क्यो लडते है ? केवल इसी अनुचित सग्रह-वृत्ति के कारण। दूसरो के जीवन को तथा जीवन के सुख-साधनो की उपेक्षा करके मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति प्राप्त नही कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह-वृत्ति मे ही ढूँढे जा सकते है।

तीर्थङ्करो के द्वारा उपदिष्ट अहिंसा आज की मान्यता के अनुसार निष्क्रिय रूप नही है। वे अहिंसा का अर्थ—प्रेम, परोपकार एव विश्व-बन्धुत्व करते है। स्वय आनन्द से जीओ और दूसरो को जीने दो, तीर्थङ्करो का आदर्श यही तक सीमित नही है। उनका आदर्श है—दूसरो के जीने मे मदद करो, बल्कि अवसर आने पर दूसरो के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो। वे उस जीवन को कोई महत्त्व नही देते, जो जन-सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रह कर एक-मात्र अपने स्वार्थ मे ही उलझा रहता है।

जो दूसरो की सेवा करता है, वह भी दूसरो की सेवा का मेवा-फल पाता है। जिसने मुक्त भाव से जग को प्यार किया है, उसने सदा जग से प्रेम एव प्यार ही पाया है। विरोधी को भी अपने अनुकूल बनाने की अहिंसा मे अद्भुत शक्ति है। वस्तुत अहिंसा ही श्रमण-सस्कृति का सार तत्त्व है। श्रमण-सस्कृति का पालन करने के लिए कौन-सा उपाय सर्व-सुलभ और सर्वश्रेष्ठ है ? कदाचित् यह प्रश्न आपके मन और मस्तिष्क मे एक खोज-सम्बन्धी जिज्ञासा पैदा करेगा। इस जिज्ञासा की सन्तुष्टि के लिए

आपको अधिक विचार मन्थन की जरूरत नही है। इसका उपाय बहुत सीधा-सादा है, अर्थात्—'अहिसा को व्यावहारिक जीवन मे ढाल लेना ही श्रमण-सस्कृति की सच्ची साधना है।'

१९

संस्कृति की अन्तरात्मा

जैन-सस्कृति जन-जन की सस्कृति रही है। आचार की पवित्रता और विचार की विराटता जैन-सस्कृति का मूल आधार है। यह मस्कृति गुणो के विकास को महत्त्व देती है। किसी भी जाति और कुल की ऊँचता-नीचता को नही। जैन-सस्कृति जाति, कुल, देश और धन के वन्धनो से मुक्त होकर जन जन को भेद और विरोध से दूर हटा कर एकत्व और भ्रातृत्व का सन्देश देती है। वह मानव को विराट् और महान् वनाने की प्रेरणा करती है।

मनुष्य का जीवन केवल उसी तक सीमित नही है, वह जिस समाज और राष्ट्र मे रहता है उसके प्रति भी उसका कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य से पराङ्मुख होकर भागने मे मनुष्य का गौरव नही है, उसका गौरव है, हजारो-हजार वाधाओ को, रुकावटो को पार करके अपने कर्त्तव्य-कर्म को जन-कल्याण की भावना से करते जाना। इस नि स्वार्थ कर्म-योग मे यदि उसे जनता का स्वागत-

सत्कार मिले तो क्या ? और यदि चारो ओर से हजार-हजार कण्ठ स्वरो से विरोध मिले, तो भी क्या ?

मनुष्य अपने जीवन मे अहिसा, सत्य और सहयोग की भावना अपनाकर ही अपना विकास कर सकता है। सम्प्रदायवाद, जातिवाद और वैर-विरोध की नीति उसके विनाश के लिए है, विकास के लिए नही। जैन-सस्कृति कहती है, कि मनुष्य स्वय ही देवत्व और दानवत्व मे से किसी भी एक व्यक्ति को चुन सकता है। वह देव बन कर ससार के सामने ऊँचा आदर्श रख सकता है। मनुष्य स्वय अपने भाग्य का स्वामी है, जीवन का सम्राट् है। विचार और विवेक से वह बहुत ऊँचा उठ सकता है। मनुष्य के विकास मे ही समाज और राष्ट्र का भी विकास है, और उसके पतन मे उनका भी पतन ही है।

जैन-सस्कृति विचार-स्वतन्त्रता को मुख्यता देती है। अन्ध-विश्वास, अन्ध-परम्परा और रूढिवाद का विरोध करती है। सत्य जहाँ कही भी मिलता हो, ग्रहण कर लेना चाहिए। जो सत्य है, वह सब मेरा है, यह जैन-सस्कृति का आघोष रहा है। जैसे दूध मे से मन्थन द्वारा घृत निकल आता है, वैसे लोक-जीवन के मन्थन से जो सत्य निकलता है, वह सब अपना ही है। हाँ, मनुष्य का मनन और मन्थन क्षीण नही हो जाना चाहिए। यदि उसमे विवेक-शक्ति नही रही, तो फिर अर्थ का अनर्थ भी होते क्या देर लगती है ?

आज के प्रत्येक धर्म के नीचे इतना कूडा-करकट एकत्रित हो गया है कि जिससे धर्म का वास्तविक स्वरूप ही नष्ट होने लगा है। विवेक और ज्ञान के प्रवाह से उसे बहा देना चाहिए। जैन-सस्कृति का सीधा विरोध अन्ध-विश्वास और अज्ञानता से है।

भारत के बहुत से लोग कहते है—"नर और नारी मे बहुत बडा भेद है।" नारी, नर के समान कार्य नही कर सकती। यह भी एक अन्ध-विश्वास है। मेरा अपना विश्वास तो यह है, कि क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर—सभी कार्यों मे नारी ने अपनी विशेषता सिद्ध कर दी है। आत्म-साधना जैसे जटिल तथा विषम मार्ग मे भी वह नर से पीछे नही रही है। जैन-सस्कृति कहती है—समाज रूपी रथ के नर और नारी बराबर के पहिए है, जिससे कि समाज की प्रगति होती रहती है।

सत्य के महापथ पर अग्रसर होने वाले नर हो, नारी हो बाल हो या वृद्ध हो ? उन सभी का जीवन समाज और राष्ट्र के लिए मङ्गलमय वरदान है।

२०

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज का परस्पर वही सम्बन्ध है, जो सागर के एक बिन्दु का महासिन्धु से होता है। जिस प्रकार बिन्दु-बिन्दु से मिलकर एक महासिन्धु बन जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति व्यक्ति से मिलकर एक समाज बनता है। मनुष्य, समाज के बिना जीवित नही रह सकता। समाज से भिन्न उसका अस्तित्व सम्भव नही है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति का विकास तभी सम्भव है, जब कि वह समाज मे अपना विलय कर दे। क्योंकि समाज से अलग रह कर मनुष्य का काम नही चल सकता।

व्यक्ति समाज को और समाज व्यक्ति को प्रभावित करता है। व्यक्ति का आचार समाज का आचार बन जाता है और व्यक्ति का विचार समाज का विचार बन जाता है। इसी प्रकार समाज के आचार और समाज के विचार का प्रभाव भी व्यक्ति पर अवश्य पडता है। व्यक्ति समाज को देता है, और समाज व्यक्ति

को देता है । व्यक्ति और समाज का यह आदान-प्रदान ही वस्तुत मानव की सामाजिकता का मूल आधार है ।

समाज के विकास मे व्यक्ति का विकास, और व्यक्ति के विकास मे समाज का विकास निहित रहता है । समाज चेतन नही, जड है । उसमे क्रिया नही, विचार-शक्ति नही । अतः उसे मोडने वाला अथवा गतिशील बनाने वाला व्यक्ति ही होता है । व्यक्ति के अभाव मे समाज कुछ भी नही कर सकता । आज के युग मे व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को लेकर एक विवाद उठ खडा हुआ है । व्यक्ति का शासन समाज पर हो अथवा समाज का शासन व्यक्ति पर हो ? आज चारो ओर व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष दीख पडता है । किन्तु यहाँ हमे इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्ति-स्वतन्त्रता का अर्थ—स्वच्छन्दता नही है । स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता मे बडा अन्तर है । स्वतन्त्रता मे सयम रह सकता है, पर जहाँ स्वच्छन्दता है, वहाँ सयम टिक नही सकता । समाज को मिटाकर व्यक्ति जीवित नही रह सकता और व्यक्ति को दलित करके समाज फल-फूल नही सकता । व्यक्ति और समाज के उचित सतुलन मे दोनो का विकास हो सकता है । इसी तथ्य को हिन्दी साहित्य के महाकवि जयशकर प्रसाद ने अपने महाकाव्य 'कामायनी' मे अभिव्यक्त किया है—

> "अपने मे सब कुछ भर
> कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
> यह एकान्त स्वार्थ भीषण है,
> अपना नाश करेगा ।"

व्यक्ति पर आस-पास के वातावरण का अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पडता है । । बहुत कम व्यक्तियो मे यह क्षमता होती है कि

वे वातावरण को अपने अनुकूल बना सके। अन्यथा व्यक्ति जैसा वातावरण देखता है, वैसा ही अपने-आप को बनाने का प्रयत्न करता है। अतः परिस्थिति और वातावरण को अपने प्रतिकूल न बनने दो। व्यक्ति का विचार और उसका कार्य कभी-कभी प्रतिकूल परिस्थिति को भी अनुकूल बना लेते हैं। व्यक्ति को चाहिए कि वह कभी ऐसा कार्य न करे, जिससे समाज को क्षति पहुँचे अथवा समाज का सतुलन छिन्न-भिन्न हो जाए। दूसरो के प्रति सद्-व्यवहार और सद्भावना रखने से समाज अनुकूल बनता जाएगा। यदि स्वय अच्छे बनने का प्रयत्न करोगे, तो समाज भी अच्छा ही बनेगा। क्योकि समाज का अच्छापन या बुरापन व्यक्ति के अच्छेपन या बुरेपन पर आधारित है। समाज के सुधार का आरम्भ भी व्यक्ति के सुधार से होना चाहिए। प्रयत्न करो कि तुम स्वय ऊँचे उठ सको, जिससे समाज भी उन्नत एव विकसित हो सके तथा वह प्रगतिशील बन सके। व्यक्ति के विकास पर ही समाज का विकास आधारित है।

प्रत्येक व्यक्ति को समाज से सरक्षण प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है। किन्तु यही अधिकार दूसरे व्यक्ति को भी प्राप्त है। अत दूसरो के अधिकारो पर कभी आघात न करो। यदि आप अधिकार चाहते हो, तो अपने कर्त्तव्यो को भी पूरा करने का ध्यान रखो। व्यक्ति और समाज का समन्वय एक ही बात पर आधारित है कि—'प्रत्येक व्यक्ति जीवित रहे और दूसरे को भी जीवित रहने दे।'

२१

पतझर और वसन्त

मनुष्य के जीवन मे कभी दु ख तो कभी सुख। जीवन की धारा कभी एक रस नही रहती, कभी सम तो कभी विषम। अनुकूलता और प्रतिकूलता के झूले पर झूलते रहना ही वस्तुत मानव का स्वभाव है। उसके जीवन क्षितिज पर कभी अधियारी रात आती है, तो कभी उजला दिन भी आता है। उसका जीवन एक ऐसा जीवन है, जो कभी निराशा के गहरे गर्त मे पहुँचता है, तो कभी आशा के उच्चतम शिखर पर। जीवन की वाटिका मे कभी अपत पतझर आता है तो कभी सुन्दर वसन्त भी वहाँ पर मुस्करा उठता है। पतझर के वाद वसन्त और वसन्त के वाद फिर पतझर—यही तो जीवन-क्रम है। महाकवि दिनकर ने जीवन की इसी परिभाषा को अपने काव्य मे मधुर-भाव मे अभिव्यक्त किया है—

"फूलो पर आँसू के मोती और अश्रु मे आशा।
मिट्टी के जीवन की छोटी, नपी-तुली परिभाषा॥"

सुख और दु:ख मे सम रहना ही वस्तुत सच्ची जीवन-कला है। जब तक समत्व-योग की जीवन-कला अधिगत नही हो जाती है, तब तक मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य को सप्राप्त नही कर सकता। सुख आने पर फूल जाना और दुख आने पर कुम्हला जाना—यह भी क्या कोई जीवन है? अनासक्त योगी न शुभ का स्वागत करता है और न अशुभ का तिरस्कार। वह अपनी राह पर मस्ती के साथ चलता है। न किसी की निन्दा का भय है और न किसी की प्रशसा की अभिलाषा। वह अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य को अधिक महत्त्व देता है। उसके पथ मे आने वाले विकट सकट और लुभावने प्रलोभन उसे अपने पथ से विचलित नही कर सकते। वह उस कोकिल के समान नही है, जो मधु मास मे तो झूम-झूमकर मधुर कूजन करता हो, और पतझर के नीरस क्षणो मे किसी एकान्त स्थान मे बैठकर अपने बीते दिनो को याद करता हो। जब तक पतझर और वसन्त मे समभाव पैदा नही होगा, तब तक मनुष्य अपने जीवन के वास्तविक आनन्द को प्राप्त नही कर सकेगा। जीवन के इसी महान् तथ्य को कवि 'सुमन' ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"साथी, इस कर्त्तव्य जगत मे
मानव बनकर जीना होगा
अपने सुख-दु'ख के प्यालो को
जैसे भी हो पीना होगा
चलते चलो, करो जो करना,
व्यर्थं निराशा से डरते हो?"

वह मनुष्य ही क्या, जो विकट सकट मे अपनी धीरता को खो बैठे! वह पथिक ही क्यो, जो पथ की बाधाओ से व्याकुल

होकर लक्ष्य पर पहुँचे बिना ही वापस लौट पडे। वह साधक ही क्या, जो मार्ग के फूलो से तो प्यार करे और शूलो से घृणा। जब तक पथिक के चरणो मे अगद जैसी दृढता न होगी, तब तक वह किसी भी लक्ष्य पर पहुँचने का अपना सकल्प पूरा नही कर सकता। अपनी मस्ती मे चलने वाला राही न फूल चुनने के लिए ठहरता है और न शूलो से व्याकुल होकर लौटता है। वह तो मस्ती के साथ अपनी राह पर चलता रहता है। महादेवी वर्मा ने इसी दिव्य-भाव को अपनी कविता की पक्तियो मे यो व्यक्त किया है—

"पथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला!
और होगे चरण हारे,
अन्य हैं, जो लौटते दे शूल को सकल्प सारे,
दुखव्रती निर्माण उन्मद
यह अमरता नापते पद
बांध देंगे अंक-ससृति से तिमिर मे स्वर्ण-वेला!"

मनुष्य मूल मे आशावादी है। आशा पर ही उसका जीवन चल रहा है। आशा जीवन है, और निराशा मरण। आशा साहस है, और निराशा कायरता। आशा का दीप जलाकर ही मनुष्य अपने मन मे आने वाले निराशा के अन्धकार को दूर भगा सकता है। जिस दिव्य आत्मा के हृदय मे आशा का ज्योतिर्मय दीप जल रहा हो, भला उसे कैसा दु:ख, कैसी चिन्ता और कैसी निराशा? जिसने सदा हँसना सीखा है, वह रोना क्या जाने? निराशा वह तूफान है, जहाँ आशा की पतवार ही मनुष्य को किनारे लगाती है। निराशा के झकोरे जब मनुष्य को बेभान और बेसुध कर डालते हैं, तब एकमात्र आशा ही उनके जीवन का अमृत-बिन्दु बनता है।

जीवन के अन्तरिक्ष मे कभी दु ख की काली घटाएँ आती हैं, तो कभी सुख का शुभ्र प्रकाश भी। दु ख मे निराश क्यो होना, यह कुछ समझ मे नही आता? क्या पता यह दु ख ही हमे शिक्षा देने आया हो? महाकवि रवीन्द्रनाथ ने कहा है—

"दुःख की शिखा का प्रदीप जलाकर अपने मन को खोजो। शायद तुमको अचानक अपने चिरकाल का धन हाथ लग जाए।"

सुख मे सभी आनन्द मानते है, परन्तु दु ख मे सभी अकुला जाते है। सुख से इतना प्यार क्यो और दु ख से इतनी घृणा क्यो? क्या सुख और दुःख एक ही जीवन शाखा के दो मधुर फल नही है? दु ख अभिशाप नही है, एक सुन्दर वरदान है। दुःख एक वह तपस्या है, जिससे जीवन का कचन और भी अधिक निखरता है।

अनुकूलता मे मुस्कराना सहज है, परन्तु प्रतिकूलता मे भी मुस्कराने वाला निश्चय ही असाधारण पुरुष होता है। अनुकूलता और प्रतिकूलता—ये सब जीवन के खेल हैं। इनको एक चतुर खिलाडी के समान खेलना चाहिए।

वसन्त के सुन्दर एव सुरम्य राग-रग मे झूमने वालो, अपने पीछे खडे पतझर को न भूल जाना। विचार करो, यदि पतझर न आता, तो वसन्त कैसे आ सकता था। अन्धकार न जाए, तो प्रकाश कैसे आए? पतझर से प्यार करने का अर्थ है—अपने जीवन का सही-सही अकन। भले ही आप वसन्त से प्यार करे, किन्तु राम ने तो पतझर से ही प्यार किया था। गीता के अमर उपदेष्टा श्रीकृष्ण ने वसन्त मे नही, जीवन के पतझर मे ही जन्म लिया था। भगवान् महावीर ने अपने जीवन के भरे-पूरे वसन्त को छोडकर पतझर से ही प्यार किया था। बुद्ध जब अपने

राजसी वैभव से ऊब गया, तब उसे शान्ति और आनन्द जीवन के पतझर मे ही मिला। भारत के चिन्तको ने शून्य मे से भी सब कुछ पाने का सफल प्रयत्न किया है।

पतझर और वसन्त—जीवन के दो पक्ष है। उन दोनो मे से कौन सुन्दर है, कौन असुन्दर ? इसका निर्णय करना कठिन होगा। भोगी वसन्त मे झूमता है, तो योगी पतझर मे ही अपनी योग-साधना साधता है। फिर, दोनो मे से किस को सुन्दर कहा जाए और किस को असुन्दर ?

२२

आत्म-विश्वास

दुर्वल वह नही है, जिसे आप दुर्वल समझते है। वस्तुत दुर्वल वह है, जो अपने-आप को स्वय दुर्वल समझता है। जिस व्यक्ति को अपनी शक्ति पर, अपने वल पर स्वय विश्वास नही है, वह दूसरो को क्या प्रेरणा दे सकेगा ? आत्म-विश्वास का अभाव ही वस्तुत बहुत सी असफलताओ का कारण होता है। शक्ति के विश्वास मे ही शक्ति है। वह व्यक्ति सव से कमजोर है, जिसको अपने-आप पर तथा अपनी शक्ति पर विश्वास नही होता। पथ का अवरोध ही मनुष्य को साहस, प्रेरणा और विश्वास प्रदान करता है। जल की तीव्र धारा जव समुद्र से मिलने का निश्चय करती है, तव पथ के पाषाण, शिला और शैल भी उसके मार्ग का अवरोध नही कर पाते है। जल-धारा अपना माग स्वय वना लेती है। कवि ने कहा है—

"तेज धार का कर्मठ पानी,
चट्टानो के ऊपर चढकर,
मार रहा हे घू‍ँसे कसकर,
तोड रहा है तट चट्टानी ।"

प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे 'जय' और 'पराजय' के क्षण आते ही रहते है। 'जय मे आशा और उल्लास का होना स्वाभाविक है, किन्तु 'पराजय' के क्षणो मे आत्म-विश्वास खो बैठना सब से बडी असफलता है। जीवन मे पराजय के क्षण आते ही है, असफलता का सामना भी करना ही पडता है, किन्तु यह सब कुछ रोकर नही, हँस कर करना चाहिए। जीवन के मोर्चे पर कभी मनुष्य को जय मिलती है, तो कभी पराजय। किन्तु इतने मात्र से मनुष्य को पराजय मे अपना साहस नही खोना चाहिए और जय मे अपना मार्ग नही भूल जाना चाहिए। दोनो मे समान भाव मे स्थिर रहना चाहिए। यही जीवन की कला है। इस सम्बन्ध मे एक कवि ने कहा है—

"फूल न उठना विजय गर्व से,
दुःखी न होना खाकर हार।
गिर कर उठना—उठकर गिरना,
है यह जीवन का व्यापार ।"

कवि ने इन पंक्तियो मे मानव-जीवन का सम्पूर्ण सार भर दिया है।

आत्म-विश्वास सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिसका अपने मन पर ही विश्वास नही है, और जो अपनी शक्तियो पर विश्वास नही कर सकता, वह अपनी कमजोरी मे कैसे लडेगा ? मन की दुर्बलता सफलता मे सब मे वडी बाधा है।

मनुष्य के लिए आत्म विश्वास ही सब से बडी शक्ति है। इसके अभाव मे वह महान् कार्य नही कर सकता। कोलम्बस के अद्भुत आत्म-विश्वास का ही फल था कि वह पृथ्वी को गोल सिद्ध कर सका। नैपोलियन के आत्म-विश्वास ने असभव को भी सभव बना दिया। मनुष्य किसी भी स्थिति मे हो, कैसे भी तूफान के बीच हो, वह आत्म-विश्वास के सहारे ऊपर उठ सकता है, तूफान को पार कर सकता है। याद रखो, कि तुम स्वय ही अपने सब से बडे शत्रु हो, और तुम स्वय ही अपने सब से बडे मित्र हो। तुम अपनी शक्ति, अपने बल और अपने विश्वास से सारे ससार को जीत सकते हो। निश्चय करो, और जुट जाओ। तब पता चलेगा कि सफलता तुम्हारे चरणो पर लोट रही है। तुम्हारी चाही चीजे तुम्हारे पास खिची चली आ रही हैं।

दृढ इच्छा शक्ति ही आत्म-शक्ति है। अपनी इच्छाओ पर अकुश रखकर ही तुम अपनी आत्म-शक्ति को बढा सकते हो। जीवन की सफलता के पथ पर आगे बढने के लिए दृढ इच्छा-शक्ति की अत्यन्त आवश्यकता होती है। विचारो मे जितनी दृढता होगी, आत्म-शक्ति भी उतनी ही बलवती होगी। आत्म-शक्ति के लिए विचार-बल तथा चरित्र-बल की बडी आवश्यकता है। मनुष्य मे बहुत बल है, यह माना, परन्तु विचार उससे भी अधिक बलवान् है। भावना को क्रियात्मक रूप देने के लिए विचारो की आवश्यकता होती है। आत्म-शक्ति और विचारो का सम्बन्ध मन से है। ज्ञानी लोगो ने मन को व्याघ्र कहा है। राजा जनक ने मन को चोर कहा है। राजा जनक कहता है—"प्रबुद्धोऽस्मि, प्रबुद्धोऽस्मि, दृष्टश्चौरो मयात्मनः।" अर्थात्—"मै जाग उठा हूँ, मै जाग उठा हूँ, आत्मा के चुराने वाले चोर को मैने

देख लिया है।" मन क्या नही कर सकता ? उसकी गति अपार है, उसका बल अपार है। मन जो चाहे, सोच सकता है—अच्छा भी और बुरा भी। शास्त्रकार कहते हैं—"मन पूतं समाचरेत्।" अर्थात्—'मन को सदा पवित्र रखो।'

२३

विद्या और कला

मानव जीवन मे विद्या और कला का विशेष स्थान रहा है। कहना होगा, कि विद्या और कला हीन मानव, मानव ही नही। शुक्राचार्य ने अपने नीति ग्रन्थ मे कहा है—"सर्व विद्यास्वनभ्यासो जराकारी कलासु च।" अर्थात् जब मनुष्य के मन मे नयी विद्या और नयी कला सीखने की स्फूर्ति न रहे, तब समझ लेना चाहिए कि वह अब जरा-क्रान्त हो चला है, जीवन के अस्ताचल पर जा पहुँचा है।

विद्या जीवन का प्रकाश है, और कला जीवन की गति। विद्या जीवन की शक्ति है, और कला जीवन की अभिव्यक्ति। विकास, अभ्युदय और समुन्नति के लिए दोनो की तुल्यबलेन उपासना करना आवश्यक ही नही, बल्कि अपरिहार्य भी है। अन्ध-पगु न्याय सस्कृत मे प्रसिद्ध है। अन्धा देख नही सकता, चल सकता है। और पगु चल सकता है, पर देख नही सकता। दोनो का समन्वय ही मानव जीवन का एक महान् आदर्श है।

आत्मा का स्वभाव क्या है ? और उसका विभाव क्या है ? यह जान लेना विद्या है। महान् दार्शनिक यशोविजय जी के शब्दो मे—"स्वभाव-लाभ-सस्कार कारण ज्ञानमिष्यते ।" अर्थात् आत्मा के स्वभाव-लाभ के सस्कार मे जो आप्त-वचन कारण बनता है, वही सच्चा है, वही वास्तविक विद्या है। शेष जो कुछ ज्ञान है, वह तो बुद्धि-विलास मात्र है। आत्मा और कर्म के अनादि सश्लेष को विश्लेष मे परिणत कर देना, यह कला है। जानना विद्या और उसके अनुसार चल पडना कला है।

आगम की भाषा मे साधक को—"विज्जा चरण-पारगो" कहा गया है। श्रमण-सस्कृति मे जीवन का यह एक विशुद्ध सलक्ष्य है। विद्या और चरण मे, ज्ञान और चारित्र मे पारगत होना, साधक की साधना का लक्ष्य-बिन्दु है। जिस साधक ने अपने साधना बल से विशुद्ध विद्या और पवित्र आचरण प्राप्त कर लिया, वह कृत-कृत्य हो गया। जीवन्मुक्त हो गया। विद्या और कला की सच्ची उपासना मनुष्य को अरिहन्त और सिद्ध पद पर पहुँचा देती है।

२४

जीवन का स्वस्थ दृष्टिकोण

'दूसरो के दोषो को देखना' जितना सरल है, अपने आत्म-स्थित दोषो को देख सकना, उतना ही कठिन है। मनुष्य अपने ही गज से जब अपने-आप को नापता है, अपनी ही विचार-तुला मे जब अपने-आप को तोलने बैठता है, और अपने ही दृष्टिकोण से जब अपने-आप को परखता है, तब नि सदेह वह अपने को ज्ञानी, विवेकी और अनुभवी समझने लगता है। उसने अपने सम्बन्ध मे जो कल्पना कर ली है, एक मानसिक चित्र तैयार कर लिया है, उसके विपरीत जब कोई मनुष्य विचार करता है या बोलता है, अथवा प्रवृत्ति करता है, तब वह उसे अपना विरोधी, वैरी और घातक घोषित कर देता है। उसके सम्बन्ध मे जन-जन के मानस मे द्वेष, घृणा और नफरत फैलाता फिरता है। उसे निन्दक और आलोचक कहता है।

वस्तुत वह स्वय ही अपना वैरी है, विरोधी है, और है अपना परम शत्रु ! अपनी योग्यता से अधिक अपने को समझना

अपने दोषो को भूल कर, अपने अवगुणो को भी गुण समझने की भूल करना—"यही तो है, पतन का पथ।"

एक विचारक ने अपनी पुस्तक मे लिखा है, कि—"प्रत्येक कार्य मे छोटी-छोटी भूलो का भी पता पा लेना सफल जीवन का और साधक जीवन का परमोच्च रहस्य है।" जिस ढग से व्यवसायी अपनी रोकड मिलाता है, उसी ढग से ही साधक को भी अपने जीवन का हिसाब-किताब साफ रखना है। एक पैसे की भूल से भी रोकड गडबडा जाती है, उसी प्रकार एक भी त्रुटि से भले ही वह नगण्य भी क्यो न हो—साधक का धवल-जीवन धूमिल एव मलिन बन जाता है।

सस्कृत भाषा मे एक शब्द है—"दोषज्ञ।" सामान्यत इसका अर्थ होता है—दोषो को जानने वाला। विशेषत इसका अर्थ है—"पडित।" एक आचार्य ने कहा है—"**मनुष्येण दोषज्ञेन भवितव्यम्।**" मनुष्य को दोष-दर्शी होना चाहिए। दोष देखना, पण्डित का लक्षण है। जो भूल देख सकता है, भूल पकड सकता है, वही सच्चा पण्डित है।

पर, प्रश्न उपस्थित होता है कि दोष किस के देखे? अपने या पराये? पराये दोष देखते-देखते ही अनन्त-काल हो गया, परन्तु आत्मा का क्या सधा उससे? अत फलित हुआ कि अपने दोषो को देखो, उन्हे उसी क्रूरता से पकडो, जितनी क्रूरता मे दूसरो के दोषो को पकडते हो। जिसने अपने को पकडा, अपनी चोरी पकडी, वही सच्चा पण्डित है, वही सच्चा साहूकार है।

अपने स्वभाव, अपने विचार और अपने व्यवहार की परीक्षा करने मे मनुष्य को अपनी बहुत-सी कमजोरियो का पता चल जाता है। दूसरो को दूषण देने की अपेक्षा अपने को ही

परखना-सीखना चाहिए, यही जीवन की यथार्थ कला है। भगवान् महावीर ने अपने साधको को सावधान करते कहा—

"जाए सद्धाए निक्खता तामेव अणुपालिया।"

"साधको! जिस श्रद्धा से, जिस विश्वास से और जिस मजबूती से तुमने साधना के महामार्ग पर अपना पहला कदम रखा है, उसी श्रद्धा से, उसी विश्वास से और उसी मजबूती से जीवन की सन्ध्या तक निरन्तर चलते रहो! अपनी गति को यति देना तो दुर्बलता नही है, परन्तु पथ से स्खलित हो जाना, विचलित हो जाना, अवश्य तुम्हारे लिए कलक है, दूषण है, दोष है। और दोपमय जीवन साधक के लिए विष है, मृत्यु है। उसका जीवन तो दोप-विवर्जित होना चाहिए।"

ससार को दोष देने के पूर्व साधक पहले अपनी ओर देख ले कि कही दोप का बीज स्वय उसी मे तो नही है? जो साधक ससार को प्रकाश देने चला है, पहले उसे अपना भी अवलोकन कर लेना चाहिए कि कही उसी के हृदय-सदन मे तो अन्धेरा नही है। जो दूसरो का पथ-प्रदर्शक बन कर निकला है, कही वही तो उन्मार्ग पर नही चल पडा है? साधक को इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए कि जो विकार उसे बाहर दीख रहा है, उसका मूल कही उसी के भीतर तो नही है? साधक यदि अपने-आप मे सावधान होकर चलता है, जागरूक होकर अपने पथ पर बढ रहा है, तो फिर ससार कुछ भी क्यो न कहे? उसे भय क्यो हो?

यदि अभिभावक, माता-पिता और गुरुजन यह कहते हैं, कि आज-कल के शिष्य, आज-कल के पुत्र—पूर्व काल के शिष्य और पुत्रो की भाँति गुरुभक्त नही है, माता-पिता के अनुशासन को नही

स्वीकार करते, तो उन्हे यह भी देखना चाहिए, कि कही उनमे स्वय गुरुत्व का अभाव तो नही है ? यदि किसी अभिभावक मे अभिभावकत्व नही है, तो फिर उसका सत्कार, सम्मान और पूजा का स्वप्न देखना भी व्यर्थ है। भूख लगने से ही किसी को भोजन नही मिलता। प्रत्येक अभिलाषा की पूर्ति त्याग और श्रम-साध्य होती है। किसी भूले राही को उसके पथ का बोध कराना एक वात है और उसे अपने पुराने वैर का शिकार वनाना विल्कुल अलग है।

चीन देश के प्राचीन दार्शनिक कनफ्यूशस ने कहा है—"वही श्रेष्ठ राष्ट्र है जिसमे राजा अपना, प्रजा अपना, पिता और पुत्र अपना, माता और पुत्री अपना तथा गुरु और शिष्य अपना कर्त्तव्य निष्ठा के साथ पूरा करते हैं।" वस्तुत बात वहुत ही ऊँची कही गई है। सब अपने कर्त्तव्य को समझ कर उसके अनुसार आचरण करें। मर्यादा का अतिक्रमण अपने ही लिए अकल्याणकर होता है। जो स्वय अपने आचरण को मर्यादित नही कर सकता, वह दूसरो को अनुशासन मे कैसे रख सकेगा ? अत आत्म-शासन सहज नही है, अपने पर अधिकार दुष्कर है। थोडा-सा अधिकार पाते ही मनुष्य आपे से वाहर हो जाता है। शक्ति के उन्माद मे अपना कर्त्तव्य भूल जाता है। नीति-शास्त्र के धुरन्धर विद्वान आचार्य शुक्र के शब्दो में—"अधिकार मदिरा को चिरकाल तक पीकर कौन नही मोहित होता"—'अधिकार-मद पीत्वा को न मुह्यात् पुनश्चिरम् '

भगवान् महावीर ने साधको को शिक्षा देते हुए कहा—"प्रत्येक साधक को प्रतिदिन अपने-आप से ये तीन प्रश्न करने चाहिए और अपनी अन्तरात्मा से उत्तर लेना चाहिए—

"किं मे कड किंच मे किच्च सेस,
किं सक्कणिज्ज न समायरामि ॥"

"मैने अपने कर्त्तव्य कर्मो मे से क्या क्या कर लिया है, अब, क्या करना शेष रह गया है ? और वह कौन-सा कर्त्तव्य है ? जो मेरी शक्ति की परिधि मे होकर भी अभी तक मेरे से बन नही सका है ?"

पर्युषण-पर्व के इन महत्त्व-पूर्ण तथा सौभाग्य-भरित दिवसो मे श्रमण और श्रमणी तथा श्रावक और श्राविका अपनी आत्मा के चिर-पोषित विकारो को चुन-चुन कर बाहर निकाल सके, और अपने कर्त्तव्य-कर्मो मे स्थिर होकर निष्ठापूर्वक अपना-अपना भाग अदा कर सके, तो अवश्य ही वे अपनी सुप्त आत्मा को जागृत करने के प्रयत्न मे सफल होगे। दूसरो के दोष न देख कर, यदि हम अपने ही दोष देखना सीख ले, तो आज तक का हमारा दूषण ही, भूषण बन सकता है। जीवन की गति और यति मे समन्वय सध सकता है।

२५

अमर सेनानी

मै तेरे चरण-कमलो मे कोटि-कोटि वार वन्दना करता हूँ !

जव तू आया, यहाँ दानवता का नग्न नृत्य हो रहा था, और हो रहा था—पशुता का उन्मुक्त ह ह ह अट्टहास !

मानवता कराह रही थी—धर्मशास्त्रो के पोथी-पन्नो के नीचे, देवी-देवताओ की मनौतियो के नीचे, ईश्वरवाद की भारी-भरकम आवाज के नीचे ।

गरीव प्रजा का जीवन-मरण मुट्ठी भर पुरोहितो के हाथ मे था। और वे थे अपनी उच्च जातीयता के अहकार मे अँधे एव पथ-भ्रष्ट ! वे अपने-आप को ब्रह्म की पवित्र सन्तान समझे हुए थे और भूले हुए थे कि हमारे सिवा और किसी को मनुष्य के के रूप मे जीने का अधिकार भी है या नही !

तू आया, क्रान्ति की रणभेरी वजाता ! शोषित प्रजा तेरे आस-पास इकट्ठी होने लगी, तो पाखण्ड के स्वर्ण-सिंहासन

शरमाकर हिलने लगे। तुझे विद्रोही समझा गया, नास्तिक कहा गया, असुर कहा गया, और भी न जाने क्या कुछ कहा गया?

परन्तु तू धीर-गम्भीर गति से बढता ही गया, लडता ही गया। तेरी वाणी मे मानवता बोल रही थी, करुणा का अमृत रस बरस रहा था, 'सर्वजन हिताय—सर्वजन सुखाय' की विश्व-सस्कृति का जयघोप गूँज रहा था।

तू ने जो कुछ भी कहा, जीवन मे तोलकर कहा, अनुभव मे उतार कर कहा। तेरी वाणी जीवित वाणी थी। क्योकि उसके पीछे जीवित आचरण का अमर स्वर हुंकार कर रहा था।

तू ने कहा—

"धर्म के नाम पर मूक पशुओ के खून की होली खेलना—पाप है, महापाप है। मारे जाने वाले मूक प्राणियो के मन का हाहाकार हत्यारो को कभी क्षमा नही करेगा, भले ही वे अपने पापाचरण को धर्म का चोगा पहनाएँ, यज्ञ का लबादा उढाएँ। वे शास्त्र, जो निरीह पशुओ के खून से सने हुए हैं, शास्त्र नही हो सकते—नही हो सकते। फिर भले ही वे वेद हो, पुराण हो, स्मृति हो, और कोई भी हो। धर्म की आत्मा—अहिंसा है, दया है और करुणा है।"

तू ने कहा—

"यह जातिवाद! यह वर्ण-व्यवस्था! सब पाखण्ड है, अत्याचार। मानव सब एक है, भाई-भाई है। धर्म और मुक्ति के ठेकेदार, पवित्रता के दावेदार किसी एक वर्ग-विशेष के लोग नही हो सकते। मै जन्म नही पूछता, कर्म पूछता हूँ—आचरण पूछता

हूँ। कोई भी मनुष्य जन्म से पवित्रता एव उच्चता का अधिकार लेकर नही आया है। न कोई ब्रह्मा के मुख से पैदा हुआ है, और न कोई किसी के पैर से। सब मनुष्य आज जहाँ और जैसे पैदा हो रहे है, अनन्त अतीत मे भी इसी तरह पैदा होते आ रहे है। कौन है जो कण्ठ मे यज्ञोपवीत डाले आया हो ? और कौन है वह, जो अपने जन्म-काल मे झाड़ू-टोकरी लेकर पैदा हुआ हो ? मेरे धर्म के द्वार मानव मात्र के लिए खुले है। मै सब को एक भाव से जीवन की पवित्रता का सन्देश देने आया हूँ।"

तू ने कहा—

"मै जनता की बोली मे बोलूँगा। सत्य के मर्म को किसी गूढ भाषा मे बन्द करके रख देने से ही पाखण्ड बढे है, अन्याय और अत्याचार फैले है। भाषा जनता के समझने के लिए है, अपने आप गुनगुनाने के लिए नही। मै किसी एक भाषा की पवित्रता के दावे को भी कुचल कर रख छोड़ूँगा। सस्कृत देवताओं की भाषा है, तो रहने दो उसे देवताओ के लिए। हमे तो हमारी मानव भाषा प्राकृत ही ठीक है। जीवन का सत्य सीधे बोलने मे है, तरह देकर बोलने मे नही। मै सस्कृत जानता हुआ भी उसमे न बोलूँगा। मुझे सस्कृत की ठेकेदारी तोड देनी है। साम्राज्य-वाद, फिर वह चाहे किसी भी तरह का हो—उससे घृणा है, अत्यन्त घृणा है।"

तू ने कहा—

"मातृ-देवता! तू अपना देवत्व कैसे भुला बैठी है ? क्या तू पुरुषो की वासना-पूर्ति का एक-मात्र खिलौना है, और कुछ नही ?

नही, तू देवी है। तुझ मे अनन्त दिव्य शक्तियो का प्रकाश है। तुझे वेद नही पढने दिए जा रहे है। तुझ पर शूद्रो के साथ-साथ 'न स्त्री-शूद्रौ वेदमधीयाताम्' की निषेधाज्ञा लादी हुई है। तू तोड डाल, इन बन्धनो को। क्या तू आत्मा नही है ? आत्मा है तो फिर पुरुषो से तू किस बात मे कम है ? वह कौन-सा अधिकार है जो मानव होने के नाते दूसरो को तो मिल सकता हो, परन्तु तुझे न मिलता हो ? माताओ। दुर्भाग्य मे तुम्हारा मूल्याकन ईमानदारी से नही किया गया। तुम्हे खोटा सिक्का करार देने वाले धूर्त हैं, धर्म-द्रोही है। तुम्हे उनसे लडना होगा, अपनी छीनी हुई स्वतन्त्रता पुन प्राप्त करनी होगी !!"

तू ने कहा—

"मनुष्य। तू अपने भाग्य का निर्माता स्वय है। तू कहाँ भटक रहा है देवी-देवताओ के पीछे,ईश्वर के पीछे ? तुझे क्या लेना-देना है इनसे ? भद्र। तू है स्वय देवताओ का भी देवता, और ईश्वर का भी ईश्वर। वह कल्पित ईश्वर तेरी ही कल्पना का रूप है, तेरे ही दिमाग की उपज है ! क्या करेगा वह तेरा मानस पुत्र ? मनुष्य अपने कर्म से ही बनता और बिगडता है। तू द्विभुज परमेश्वर है। जब तू अहिंसा और सत्य के विकास की अन्तिम भूमिका पर पहुँचेगा तो तेरे ज्ञानालोक से अनन्त विश्व जगमगा उठेगा, सारे विश्व की विभूतियाँ नत-मस्तक होकर तेरे चरणो मे होगी। तू ठुकरा देगा तो तेरी ठोकर मे विजय का स्वर झनझना उठेगा। अपने को हीन मानना, अपने हाथो अपनी हत्या करना है। जब जागेगा तो विश्व भर के अनन्त-अनन्त रहस्य हाथ जोडे तेरे सामने खडे होगे।"

"वीर तू ने मानवात्मा मे सत्य और अहिंसा का सुनहला रङ्ग भर कर अपने युग के समाज एव राष्ट्र को शिवत्व की उपासना मे लीन किया।"

"पशु-बल कितना भी भीषण हो,
किन्तु अन्त मे होगी हार।
देव ! तुम्हारे सौम्य-भाव से,
जग सीखेगा प्रेमाचार ॥"

२६

अनासक्ति योग

मैं पवन हूँ, पवन !

पलभर भी कही इधर-उधर न अटक कर दिन-रात दौड़ता रहने वाला, उड़ता रहने वाला !

मेरा काम है, विश्व को जीवन देने के लिए भाग-भागकर पृथ्वी के कण-कण को छूना ! और उसे जीवन प्रदान करना ।

न मुझे सुख रोक सकता है, न मुझे दु.ख रोक सकता है । यही बात है कि धूप हो, छाँह हो, सरदी हो, गरमी हो, वर्षा हो, वसन्त हो--कुछ भी हो, मुझे इन सुख-दु.ख के द्वन्द्वो की कोई परवाह नही । मेरे तेज कदम फूल और काँटो पर समान भाव से पडते हैं और उसी क्षण आगे वढ चलते हैं ।

देखो, वह सामने फूलो का कैसा खुशनुमा बाग है? कैसे सुन्दर रङ्ग-बिरगे फूल खिले है? कैसी मादक सुरभि गन्ध महक रही है? जो आता है, सहमा खडा हो जाता है और घटो खडा रहता है। परन्तु क्या मै भी खडा हो जाऊँगा? नही, बिल्कुल नही। लो, यह देखो। तीर की तरह सनसनाता हुआ एक ही छलाँग मे हो गया हूँ परली पार। अङ्ग-अङ्ग भीनी सुगन्ध से महक रहा है। परन्तु कोई कितना ही बडा मन-मोहक प्रलोभन हो, वह मुझे एक क्षण भी रोक नही सकता।

और वह देखो, कैसा भीषण दावानल धधक रहा है, सब ओर आग ही आग बरस रही है, हजारो-लाखो ज्वालाएँ आकाश की ओर लपलपा रही है। जो आता है, वह भयाकुल हो दस कदम पीछे हटकर खडा हो जाता है। कुछ देर तर्क-वितर्क मे उलझ कर अन्त मे हताश-निराश वापस लौट जाता है। परन्तु क्या मैं भी वापस लौट जाऊँगा? नही, बिल्कुल नही। लो, यह देखो। तीर की तरह सनसनाता हुआ एक ही छलाँग मे हो गया हूँ परली पार। अङ्ग-अङ्ग झुलस गया है, सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया है, परन्तु कोई कितना ही बडा भीषण मृत्यु का कुचक्र हो, वह मुझे एक क्षण भी रोक नही सकता।

श्रमण-सस्कृति के अमर गायक भगवान् महावीर ने इसीलिए मेरी ओर सकेत करते हुए कहा है कि—'साधना पथ के वीर यात्रियो, तुम्हे पवन बनना है—पवन। न तुम सुख से रुको, न दुःख से रुको, न यश से रुको, न अपयश से रुको, न जीवन से रुको, न मरण से रुको। ये जीवन के द्वन्द्व यदि तुम्हारे पथ के रोडे बन गए और तुम इनसे अटक कर रह गए तो फिर तुम साधक ही क्या हुए, साधना पथ के यात्री ही क्या हुए? तुम्हे तो

चलना है, प्रतिपल चलना है। न तुम्हे फूल रोक सके, न तुम्हे काँटे रोक सकें। तुम्हारा पडाव, तुम्हारा विश्राम केवल एक ही स्थान पर है। और वह है साधना का एक मात्र अन्तिम लक्ष्य, अन्तिम साध्य।

क्या समाज और राष्ट्र के जीवन मे युद्ध अनिवार्य है? क्या युद्ध मे मानव-जाति का खून वहाए विना हमारी समस्याएँ सुलझ नही सकती? क्या जल की अपेक्षा अग्नि का अधिक महत्त्व है? इन सव प्रश्नो का उत्तर एक ही है और वह है—'न'।

युद्ध होने के वाद भी तो आखिर सन्धियाँ होती हैं, फिर पहले ही सन्धियो के द्वारा क्यो न हम पारस्परिक प्रेम, सद्भावना और सहकारिता के शान्ति-केन्द्र पर पहुँच जाएँ? आग लगाकर फिर वुझाने की अपेक्षा, प्रथम आग न लगाना ही ज्यादा अच्छा है। मानव-जाति के भाग्य का निर्णय तलवार के अधिकार मे देना, राक्षस को न्याय के पवित्र आसन पर वैठा देना है।

"मानव-समाज को एक शरीर का रूप देने मे ही मानव-समाज का चिरस्थायी हित है, तभी हमारे अन्दर यह एकत्व भावना जागृत होगी कि यदि हम दूसरो को चोट पहुँचाते है तो अपने को ही चोट पहुँचाते है, यदि हम दूसरो को सहलाते है तो अपने को ही सहलाते है। मानव-समाज की छाती पर से युद्ध के राक्षस को यदि भगाया जा सकता है, तो इसी दिव्य भावना के वल पर, अन्यथा नही। हम सव एक हैं। हम सव के हित समान है फिर यह युद्ध और सघर्ष पागलपन नही, तो क्या है?"

२७

दीपक की संस्कृति

देखिए, मै दीपक हूँ। प्रकाश का अनुपम केन्द्र, ज्योतिर्मय जीवन का उज्जवल प्रतीक।

मेरी भी सस्कृति है, सभ्यता है। मेरी सस्कृति है–प्रकाश की सस्कृति, आत्मोत्सर्ग की सस्कृति।

मेरी सस्कृति का आदर्श है—अपने को तिल-तिल जलाना, अन्धकार से लडना, और जग को ज्योतिर्मय करना।

मै ही हूँ, जो जनता पथ-भ्रष्ट होने से बच रही है, नही तो वह व्यर्थ ही भटकती, अन्धकार मे टकराती।

मैं स्पर्श दीक्षा देने वाला गुरुदेव हूँ।

आए कोई मेरे पास, छूए कोई मुझे, और बन जाए मुझ जैसा ही जगमग-जगमग करता, अन्धकार मे लडता दीपक!

मै प्रकाश बांटने बैठा हूँ।

देख रहे हो, ये सव नाम के दीपक है। कहाँ है प्रकाश ? कहाँ है ज्योति ? वेचारे अन्धकार से आच्छन्न है। परन्तु यह लो, मेरी अमर ज्योति का मृदुल स्पर्श पाते ही किस प्रकार जगमग करने लगे है, अन्धकार से लडने लगे है।

अरे कितनी वडी भीड आ रही है ? आने दो, क्या डर है ? सौ हो, हजार हो, लाख हो, कितने ही हो, मै सव को ज्योति दूँगा, सव को दीपक वनाऊँगा। न मैंने कभी गिना है, और न अब गिनना है कि याचक कितने हैं, कहाँ से आ रहे हैं ? मै प्रकाश पुँज हूँ। मेरे यहाँ क्या कमी है ? जव तक जिन्दा हूँ, ज्योति वितरण करता रहूँगा, सव को अपने समान वनाता रहूँगा।

"सूर्य और मुझ मे कैसी तुलना ?
मैं सूर्य से भी महान् हूँ !
सूर्य को आकाश मे चमकते—
कोटि-कोटि काल-चक्र हो चुके हैं,
परन्तु उसने अपने जैसे एक-दो सूर्य वनाए ?
यह भी क्या जीवन ? यह भी क्या महत्ता ?
जो पिछडे हुओ को अपने समान न वना सके।
लोक साहित्य मे स्पर्श-दीक्षा का नाटक खेलने वाला,
एक पत्थर भी है—
लोग उसे पारस मणि कहते हैं।
वह लोहे को छूकर सोना वना देता है।
मूर्ख जनता उसके वडे चक्कर मे है,
परन्तु वह मेरे सामने विचारा है क्या चीज ?
वह लोहे को ही तो सोना वनाता है।"

पारस तो नही बनाता ।
लोहे से बना सोना लोहे को छूए तो,
क्या वह उसे अपने जैसा सोना बना देगा ?
बिल्कुल नही ।
कहिए, यह क्या स्पर्श-दीक्षा हुई ?
लोहे की छुरी ने पारस को छूआ,
और सोना बन गई,
परन्तु रही तो छुरी की छुरी,
धार, मार, आकार तो नही हट सका
परन्तु मेरी स्पर्श-दीक्षा देखिए,
जिसे छूता हूँ—बस, अपना-सा रूप दे देता हूँ ।
दीपक, सच्चा दीपक बना देता हूँ,
फिर उसमे और मुझ मे कोई अन्तर नही रहता ।
वह भी मेरे समान ही
स्पर्श-दीक्षा देने वाला गुरुदेव हो जाता है
हजारो, लाखो को दीपक का रूप दे देता है ।
वे दीपक फिर और दीपक जलाते है ।
बस, दीपक से दीपक—दीपक से दीपक
हजारो, लाखो, करोडो दीपको की विराट सेना
अन्धकार से जूझने को तैयार हो जाती है ।
आप ही कहिए,
मुझ मे और पारस मे कैसी समता ?
बस, अब मै अधिक न बोलूँगा ।
मेरी सस्कृति मे बोलना मना है,
यह तो केवल परिचय के लिए ही कुछ कहा जा रहा था ।

मेरे यहाँ आत्म-विकल्पना पाप माना जाता है।
मै बोलता नही, काम करता हूँ, काम—
वह भी चुपचाप, बिल्कुल चुपचाप !

२८

धर्म की परिभाषा

भावना-विशुद्धि—धर्म-साधना का एक-मात्र उद्देश्य है, भावना विशुद्धि। मन की मलिन भावना से मनुष्य का पतन होता है, और विमल भावना से उत्थान। जब तक ससार मे मनुष्य जाति की सत्ता है, तब तक उसके अभ्युत्थान के लिए धर्म की आवश्यकता भी रहेगी। जीव-जगत् मे मनुष्य से बढकर श्रेष्ठ एव ज्येष्ठ अन्य कोई नही है। परन्तु प्रश्न सबसे बडा यह है, कि मानव की श्रेष्ठता तथा ज्येष्ठता का आधार क्या है? उसकी आकृति अथवा उसकी प्रकृति। निश्चय ही उसकी महानता का आधार आकृति नही, उसकी प्रकृति है। भूख-प्यास लगने पर खा-पी लेना, थकने पर सो जाना, अपने जीवन को सुरक्षित रखने की चिन्ता और वासना की तृप्ति का प्रयत्न—ये चार बाते मनुष्य के समान पशु मे भी है। फिर भी मनुष्य मनुष्य है, और पशु, पशु है। इस भेद-रेखा का आधार अवश्य होना चाहिए। वह

है—धर्म। धर्म की अभिव्यक्ति मानव मे ही परिलक्षित होती है। धर्म कोई बाहर की वस्तु नही है, जिसको बाहर से भीतर डाला जाए। वह तो मनुष्य की अपनी शुद्ध चेतना का ही नाम है। अत भावना-विशुद्धि ही तो धर्म है। 'धर्म' शब्द के दो अर्थ हैं—स्वभाव और आचार। अपना स्वभाव तो प्रत्येक वस्तु म रहता ही है—जैसे अग्नि मे उष्णता, मनुष्य मे मनुष्यता। परन्तु जीवन-शोधन के लिए आचार एक परम तत्त्व है। सब धर्मो मे आचार पहला धर्म है। आचार एक जीवन-तत्त्व है जो व्यक्ति मे, समाज मे राष्ट्र मे और विश्व मे व्याप्त है। जिस शक्ति से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व का मङ्गल होता है, वही धर्म है। वह धर्म तीन प्रकार का है—अहिंसा, सयम और तप।

अहिंसा · मानव का मूल धर्म—"अहिंसा परमो धर्म." जैन-संस्कृति का यह एक पवित्र और प्राणभूत तत्त्व है। श्रमण-संस्कृति मे यदि कोई स्वर्णसूत्र है, तो वह यह है—"जीओ और जीने दो।" जैन-धर्म का इतिहास एक प्रकार से अहिंसा के विविध प्रयोगो का इतिहास है। अहिंसा का अर्थ है—"विचार मे, आचार मे और उच्चार से किसी भी व्यक्ति के प्रति अकल्याण की भावना न रखना, संसार के सब जीव सुखी रहे, सब जीव स्वस्थ रहे, सबके जीवन का कल्याण हो, और ससार मे कोई जीव दुखी न हो।" इस प्रकार की भावना को 'अहिंसा' कहा गया है। सबके सुख मे अपना सुख समझना—यही तो अहिंसा है, यही तो परम धर्म है। मनुष्य दो कारणो से हिंसा करता है—रक्षण के लिए और भक्षण के लिए। जब गृहस्थ अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के रक्षण के लिए प्रयत्न करता है, तो उसमे हिंसा भी हो जाती है। परन्तु वह रक्षण की हिंसा है। गृहस्थ मे स्वरक्षण

की शक्ति होनी ही चाहिए। परन्तु भक्षण के लिए, अपने स्वाद के लिए पशुओ की एव पक्षियो की जो हिसा की जाती है, वह तो स्पष्ट ही अधर्म है। एक तीसरे प्रकार की हिसा भी प्राचीन भारत मे प्रचलित थी—धर्म के लिए, अर्थात् यज्ञ के लिए। स्वर्ग के देवो को प्रसन्न करने के लिए पशु-पक्षियो को तथा मनुष्यो को भी यज्ञ-कुण्ड की ज्वालाओ मे झोक दिया जाता था। धर्म के नाम पर होने वाली यह हिंसा, अन्य हिंसाओ से अधिक भयङ्कर थी।

जैन-सस्कृति के धर्म शास्ताओ ने—तीर्थंकरो ने तथा गणधरो ने—मासाहार और हिंसा-प्रधान यज्ञो का डटकर विरोध किया था। फलत मनुष्य समाज हिंसा से धीरे-धीरे अहिसा की ओर अग्रसर होता रहा है। क्योकि अहिसा आत्मा का स्वभाव है, और हिसा विभाव। अहिसा के अमर आधार है—स्नेह, सहानुभूति और सहिष्णुता। जबकि हिंसा के आधार हैं—द्वेष, घृणा और ईर्ष्या। मनुष्य जब अपने मे बन्द हो जाता है, तब उसमे से हिंसा फूट निकलती है। किन्तु ज्यो-ज्यो वह विराट होता जाता है, त्यो-त्यो उसमे से प्रेम, दया, करुणा और सेवा के भाव प्रस्फुटित होते है। समाज, राष्ट्र और विश्व के सरक्षण के लिए अहिंसा का विकास आवश्यक है।

अहिसा धर्म के उपदेष्टा—मानव-जाति के सरक्षण के लिए, मानव-समाज के कल्याण के लिए—भगवान् ऋषभदेव ने असि, मसि एव कृषि का उपदेश, तत्कालीन मानव-समाज को दिया था। जीवन सचालन के लिए अन्न का उत्पादन आवश्यक था, आर्थिक विकास के लिए व्यापार आवश्यक था, और देश के सरक्षण के लिए न्यायपूर्वक तलवार का प्रयोग भी आवश्यक

था। भगवान् नेमिनाथ ने सुरा, सुन्दरी और मास मे ससक्त यादव जाति को अहिसा का सन्देश दिया था। भगवान् पार्श्वनाथ ने अज्ञान-मूलक तप मे होने वाली हिसा का विरोध करके अहिसा का प्रसार किया था। भगवान् महावीर ने धर्म के नाम पर होने वाली यज्ञ-हिसा का विरोध करके अहिंसा को परमधम कहा था। अहिंसा के प्रसार एव प्रचार मे भगवान् बुद्ध का भी बहुत बडा योगदान था। वतमान मे राष्ट्र-पिता गांधी जी की अहिसा के चमत्कारो को एव व्यापक प्रभावो को ससार देख ही चुका है।

सयम : आत्मा का सगीत—सयम को एक कवि ने आत्मा का सगीत कहा है। सयम, आत्मा की एक शक्ति है। सयम, अध्यात्म-जीवन का आधार है। विना सयम के मनुष्य की मनुष्यता जीवित नही रह सकती। सयम मे स्वतन्त्रता तो रह सकती है, पर स्वच्छन्दता नही। यदि शरीर की भौतिक आवश्यकताओ पर आध्यात्मिक शक्ति का अकुश न रखा जाए, तो मानव मे पशुता का समावेश हो सकता है। इसी प्रकार मन और बुद्धि पर भी नियन्त्रण की आवश्यकता है। विना अहिंसा के जीवन मे मृदुता नही आती, और विना सयम के अहिंसा का आचरण नही हो सकता। अत अहिंसा के लिए सयम की नितान्त आवश्यकता है। इन्द्रियो के अनुकूल विपयो मे राग और प्रतिकूल विषयो मे द्वेप पैदा हो जाता है। आसक्ति और घृणा—दोनो मन के विकार है। विकार को नष्ट करने के लिए विचार आवश्यक है। और, विचार ही तो वस्तुत सयम है। जीवन को स्वस्थ, सुन्दर एव सुखद बनाने के लिए सयम की बडी आवश्यकता है, क्योकि विना सयम के उत्कृष्ट कर्म, सत्कर्म नही किए जा सकते।

सयम जैन सस्कृति की भव्य ग्रात्मा है। जैन-सस्कृति का मूल ग्राधार ही शुद्ध आचार है। सयम मे सौन्दर्य है, शौर्य है ग्रौर ग्रद्भुत सामर्थ्य है।

सयम के प्रकार—ससार मे ग्रनेक प्रकार के पाप है, परन्तु मुख्य रूप मे पाँच पाप है, जिनमे ग्रन्य सभी प्रकार के पापो का समावेश किया जा सकता है। वे पाप ये है—हिंसा, ग्रसत्य, चोरी, व्यभिचार ग्रौर परिग्रह। उक्त पापो के ग्राचरण से ग्रात्मा का पतन हो जाता है। मनुष्य का नैतिक पतन हो जाता है। इनको पाँच ग्रास्रव भी कहते हैं। इसके विपरीत ग्रहिंसा, सत्य, ग्रस्तेय, ब्रह्मचर्य ग्रौर ग्रपरिग्रह—ये पाँच धर्म है, सयम हैं, सवर है, ग्राचार हैं। इनकी साधना से मनुष्य जीवन का कल्याण होता है, उत्थान होता है। इनको पाँच सवर भी कहते है। पञ्च ग्रास्रव ससार के कारण हैं, ग्रौर पञ्च सवर मोक्ष के कारण। कुछ भोग-प्रिय लोग सयम को वन्धन कहते है। किन्तु यह उनकी भूल है, क्योकि सयम वन्धन नही, एक नियन्त्रण है, जिसको साधक ग्रपनी इच्छा से स्वीकार करता है।

सस्कृति का मूल वीज. तप—सस्कृति का मूल वीज तप है। ग्रहिंसा की साधना के लिए सयम ग्रावश्यक है, ग्रौर सयम की सुरक्षा के लिए तप। तप की साधना करने वाला ग्रहिंसा ग्रौर सयम की साधना करेगा ही। तप क्या है ? वह ग्रात्मा का एक तेज है। ग्रात्मा का दिव्य प्रकाश है। तप का ग्रर्थ—न भूखे मरना है, ग्रौर न शरीर को सुखा डालना ही। तप का वास्तविक भाव है, ग्रपनी वासनाग्रो का दमन। विना तप के जीवन उर्वर नही वन सकता। वासना-वासित जीवन, धर्म की ग्राराधना मे सर्वथा ग्रसफल प्रमाणित होता है। वस्तुत तपोहीन जीवन धर्म को

धारण नही कर सकता। अत तप जीवन-शोधन का एक विशेप तत्व है। कष्ट सहिष्णुता, मनोनिग्रह और वासना-दमन ही वस्तुत. तप है। उपवास किया है, व्रत लिया है, अन्न एव जल का त्याग कर दिया है, फिर भी मन मे कपाय भावना और विषय लालसा वनी रहती है, तो वह व्रत नही, एक प्रकार का लघन है, जो किसी से वाध्य होकर किया जाता है। विना भावना के और विना विवेक के किया तप, केवल देह-दमन है।

तप का शुद्ध स्वरूप—तप आत्मा के विकारो को नष्ट करने के लिए किया जाता है। अत तप का सम्वन्ध आत्मा और मन से है। देह से वहुत कम। "तपो धर्मस्य हृदयम्"—तप को धर्म का हृदय कहा गया है, सार कहा गया है। तप क्या है ? इसके उत्तर मे कहा गया है कि—"कर्मणा तापनात् तप ।" जिस प्रकार तपाने पर सुवर्ण की मिट्टी सुवर्ण से दूर कर दी जाती है, उसी प्रकार तप से आत्मा के कर्मो को, विकारो को दूर किया जाता है। कर्मो का तापन जिससे हो, वही तप है। तप की साधना करने वालो को यह वात विशेप रूप से ध्यान मे रखने की है, कि तप उतना ही करना चाहिए, जिससे मन मे समाधि-भाव वना रहे। शक्ति न होने पर भी जो तप प्रशसा पाने के लिए किया जाता है, वह तप सच्चा तप नही। तप के दो रूप है—वाह्य और आभ्यन्तर। जीवन शुद्धि के लिए दोनो प्रकार के तपो की आवश्यकता है—मानसिक तप की भी, और शारीरिक तप की भी।

२१

क्रोध : एक विषधर

क्रोध एक विषधर सर्प है, जिसके डसने से आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है। क्रोध से बुरा आत्मा का अन्य कौन शत्रु होगा? क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य को किसी प्रकार का विवेक नही रहता। क्रोध एक प्रकार का मनोविकार है। क्रोधी मनुष्य का कोई मित्र नही होता। क्रोधी मनुष्य अपने आपको सतुलित नही रख पाता। क्रोधी को अन्धा कहा गया है। क्योकि जिस समय क्रोध आता है, उस समय मनुष्य को किसी प्रकार का विवेक नही रहता।

वैर का जन्म क्रोध से ही होता है। बहुत दिनो तक टिका क्रोध वैर एव द्वेष बन जाता है। वैर एक पुरानी बीमारी के तुल्य है, और क्रोध एक क्षणिक आवेग का नाम है। क्रोध मे पागल बन कर मनुष्य आगा-पीछा नही देखता। वैर चिरकाल तक स्थिर रहने वाला मनोविकार है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो मे—

"दुःख पहुँचने के साथ ही दुःख-दाता को पीडित करने की प्रेरणा करने वाला मनोविकार 'क्रोध' है, और कुछ काल बीत जाने पर प्रेरणा करने वाला भाव 'वैर' है। मान लो, किसी ने आपको गाली दी—और आपने यदि उसी समय उसे मार दिया, तो आपने क्रोध किया। कल्पना कीजिए—वह गाली देकर भाग गया और कुछ समय बाद आपको मिला। अब यदि आपने उसे बिना गाली के सुने मिलने के साथ ही उसे मार दिया, तो यह वैर-भाव होगा।

वैर मे भावनाओ को सचित करके मन मे रोक रखने की धारणा शक्ति रहती है। जिन व्यक्तियो मे पुराने क्रोध को सचित रखने की शक्ति है, वे ही वैर कर सकते हैं। क्रोध मे क्षणिकता रहती है, और वैर एव द्वेष मे दीर्घकालिकता रहती है।

जो क्रोध मन मे जीवन-भर बना रहता है, उसे शास्त्र की भाषा मे अनन्तानुबन्धी क्रोध अथवा दीर्घ क्रोध कहते हैं। यह क्रोध ही वैर एव द्वेष कहा जाता है। उक्त क्रोध से आत्मा का सम्यक्त्व गुण नष्ट हो जाता है। दीर्घ-क्रोधी तथा दीर्घ-रोषी मनुष्य अपने आत्म-स्वरूप को भूल जाता है। जो क्रोध मन मे एक वर्ष से अधिक ठहर जाता है, वह देश-चारित्र को नही होने देता। वह श्रावक नही बन सकता।

जो क्रोध चार मास से अधिक जमकर मन मे बैठ जाता है, वह क्रोध सर्वचारित्र का घात करता है। वह साधुत्व-भाव का विरोधी होता है। जो क्रोध पन्द्रह दिन तक रह जाता है, वह वीतराग-भाव नही होने देता। इस प्रकार एक ही क्रोध के विभिन्न कर्म होते हैं। वैर और द्वेष भी क्रोध के ही रूप हैं।

क्रोध मन को एक प्रकार की उत्तेजना से भर देता है, जिसके परिणाम-स्वरूप मन मे अनेक प्रकार के विकार पैदा हो जाते है। क्रोध से पहले तो उद्वेग उत्पन्न होता है। फिर मन मे एक प्रकार का ताप पैदा होता है। रक्त मे गरमी आ जाती है और उसका प्रवाह तीव्र हो जाता है, क्योकि क्रोध मे विवेक और सतुलन नही रह पाता। क्रोध मन की शान्ति को भग करने वाला विकार है। क्रोध के आने पर मन मे शान्ति, प्रसन्नता एव स्नेह नही रहता।

क्रोध का मनुष्य के स्वास्थ्य पर भी प्रभाव पडे विना नही रहता। क्रोधी मनुष्य का रोग शीघ्र काबू मे नही आता। क्रोध स्वय भी एक प्रकार का भयकर महारोग है। सद्विचार से मनुष्य के मन की प्रसुप्त शक्ति जाग उठती है और दुर्भाव से से जागृति शक्ति भी नष्ट हो जाती है। अत स्वस्थता के लिए मन का विकार-रहित होना आवश्यक माना गया है। मन जितना शान्त रहेगा, स्वास्थ्य-लाभ उतना ही अधिक स्थिर होगा।

यदि भोजन शान्त अवस्था मे किया जाए, तो वह एक प्रकार से अमृत है। क्रोध की स्थिति मे किया गया भोजन एक प्रकार का विष है। क्रोध के कारण वह भोजन विष वन जाता है, क्योकि खाद्य-पदार्थो पर क्रोध के कारण दूषित प्रभाव पडता है। जो व्यक्ति भोजन करते समय कुढता रहता है, जिसके मुख से कुत्सित शब्दो का उच्चारण होता रहता है, और जो नाक-भौह सिकोडे मानसिक तनाव की स्थिति मे जल्दी-जल्दी भोजन ठूँस लेता है, उसे भोजन मे क्या स्वाद आएगा ? उस भोजन से पौष्टिक तत्त्व कैसे प्राप्त होगे ? वह भोजन शरीर का पोषण नही कर सकेगा।

जिस समय क्रोध आया हो, उस समय जरा दर्पण के सामने जाकर देखो, आपका मुख-मण्डल कितना विकृत है? कैसा भयकर है? कितना भद्दा है? कितना भयावह है? क्रोध मुख के सौन्दर्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। क्रोध सौन्दर्य का शत्रु है। शान्त स्थिति मे जो मुख छवि सुन्दर एव मनोहर लगती है, क्रोध मे वही भयानक और अभद्र लगने लगती है। क्रोध शरीर को निर्बल बनाता है। उसके सौन्दर्य को नष्ट कर डालता है। क्रोध मन को अपवित्र बना देता है। क्रोध बुद्धि को अस्थिर कर देता है। क्रोध आत्मा को मलिन बना देता है। क्रोध सब अनर्थों का मूल है। क्रोधी मनुष्य कभी स्वस्थ नही रह सकता। उसका चेहरा पीला पड जाता है। शरीर सूख कर काँटा हो जाता है। पाचन-शक्ति मन्द पड जाती है। फिर धीरे-धीरे अनेक रोग शरीर मे पैदा हो जाते है।

भगवान् महावीर ने कहा है कि—"क्रोध प्रीति-भावना को नष्ट कर देता है। क्रोध को जीतने मे ही मनुष्य की सच्ची विजय है। उपशम-भाव से, क्षमा से और शक्ति से क्रोध को जीता जा सकता है। जब क्रोध आए, तब क्षमा का चिन्तन करो। जब क्रोध आए, तब उपशम-भाव का विचार करो। जब क्रोध आए, तब शान्ति का विचार मन मे भरो। क्रोध करने से क्रोध कभी शान्त नही होगा। शान्ति, क्षमा तथा उपशम-भाव से ही क्रोध नष्ट हो सकता है।"

क्रोध के परिणाम पर विचार करने से भी क्रोध शान्त हो जाता है। क्रोध के कारण पर विचार करने से भी क्रोध दब जाता है। विचार करो—उन महापुरुषो के जीवन पर, जिन्होने क्रोध को जीत लिया है। क्रोध विजेताओ के जीवन का अनुसरण

करो। क्रोध, वैर एव द्वेष का क्षय करने वाले अरिहन्तो के पथ का अनुगमन करो। अरिहन्तो का चिन्तन करने से आप भी अरिहन्त बन सकते हो। क्रोध, वेर एव द्वेष को जीतने वाला ही अरिहन्त वन सकता है।

३०

मन की साधना

मनुष्य का मन वडा विचित्र है। यह मनुष्य को स्वर्ग भी ले जा सकता है, नरक भी ले जा सकता है, और यह मनुष्य को भव बन्धनो से विमुक्त भी कर सकता है। मनुष्य के मन मे अपार वल है, अपार शक्ति है। मनुष्य को अपने मन पर सयम रखना चाहिए, क्योकि मनुष्य का मन चचल है। वह वन्दर की भाँति एक डाल मे दूसरी पर, फिर तीसरी पर कूदता-फाँदता फिरता है। यह कभी एक वस्तु से परितृप्त नही होता। एक वार किसी विपय अथवा वस्तु से क्षणिक तृप्ति पाकर, फिर नयी वस्तु की कामना करने लगता है। मन को चिन्तन और मनन मे लगाने से वह शान्त एव स्थिर हो जाता है। विपयो मे भटकने से तो वह और भी अधिक चचल तथा अस्थिर वनता है। मन को साधने की कला ही वस्तुत. श्रेष्ठ कला है। 'योग दर्शन' मे मन की पाँच भूमिकाएँ मानी गयी हैं—जो क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध नाम से कही जाती है।

क्षिप्त—चचल मन क्षिप्त कहलाता है। क्षण-क्षण मे इधर से उधर भागने वाला, वार-बार विषयो मे फिसलने वाला मन क्षिप्त होता है। क्षिप्त मन मे विवेक और वैराग्य नही रहता।

मूढ—मोह ग्रस्त मन को मूढ कहते है। इस भूमिका के मन मे न कभी ज्ञान का प्रकाश होता है, और न कभी किसी क्रिया के करने मे अभिरुचि होती है। उसकी जडता वढती रहती है।

विक्षिप्त जिस मन मे कभी चचलता वढती है, तो कभी जड़ता। एकाग्रता वहुत कम रह पाती है। इस प्रकार के मन को विक्षिप्त कहा गया है। इसमे एकाग्रता आती तो है, परन्तु वहुत कम। क्षिप्त एव मूढ की अपेक्षा यह फिर भी ठीक है।

एकाग्र–किसी एक वस्तु मे अथवा किसी एक स्थान पर स्थिर रहने वाला मन एकाग्र होता है। यह एकाग्रता प्रयत्न साध्य है। निरन्तर की साधना से साधक अपनी सिद्धि को पा सकता है। एकाग्र मन ही योग-साधना मे सफल हो सकता है।

निरुद्ध—निरुद्ध मन वह है, जिसमे किसी प्रकार का आलम्वन नही रहता। किसी भी प्रकार की वृत्ति उसमे नही रहती। यह योग की चरम-भूमिका है, जिसमे न अशुभ सकल्प रह पाते है, और न शुभ सकल्प ही शेष रहते है।

क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त इन पहली तीन अवस्थाओ का नाम नाम 'व्युत्थान' है। क्योकि इनमे एकाग्रता की अपेक्षा चचलता अधिक रहती है। इन तीनो मे योग-साधना सम्भव नही है। चौथी एकाग्र अवस्था केवल किसी एक वस्तु के अवलम्वन पर होती है। इससे ऊपर उठकर जव किसी एक वस्तु के भी अवलम्वन की आवश्यकता नही रहती है उस अवस्था को निरुद्ध कहते है।

जैन शास्त्र मे मन के दो भेद है—द्रव्य-मन और भाव-मन। भाव-मन प्रत्येक ससारी प्राणी को होता ही है। द्रव्य मन सभी को नही होता। सज्ञी पञ्चेन्द्रिय को द्रव्य-मन होता है। द्रव्य मन के आधार से ही चिन्तन स्पष्ट होता है। द्रव्य मन मे बडी शक्ति है। वह कभी शुभ का चिन्तन करता है, तो कभी अशुभ का। अशुभ चिन्तन को छोडकर शुभ का चिन्तन करना ही वास्तव मे कल्याण का मार्ग है। मन को सर्वथा सकल्प शून्य नही किया जा सकता। हाँ, उसे अशुभ से हटाकर शुभ मे लगाया जा सकता है। इसी को मन का ऊर्ध्वीकरण कहते हैं। प्रशस्त मन कल्याण का कारण है, और अप्रशस्त मन पतन का कारण है। उत्थान और पतन मनुष्य के मन के खेल है।

३१

आत्मा की शक्ति

आत्मा, जड से भिन्न एक चेतन तत्त्व है। भारत की प्रत्येक परम्परा ने आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है। जडवादी चार्वाक-दर्शन भी आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है—भले ही वह आत्मा को शरीर से भिन्न स्वीकार करने को तैयार न हो। विवाद आत्मा की सत्ता मे नही है, विवाद है—केवल आत्मा के स्वरूप मे। स्वरूप मे भिन्नता होने पर भी यह निश्चित है, कि आत्मा है। और वह शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सब से परे है। आत्मा ज्ञान रूप है। स्वभाव से वह परिशुद्ध है। आत्मा मे अनन्त शक्ति है, परन्तु विकारो के कारण वह शक्ति कुण्ठित हो रही है। साधना से उसकी प्रसुप्त शक्ति को जगाया जाता है। आत्मा की अनन्त शक्ति को जगाने के लिए कुछ गुणो का विकास आवश्यक है। गुणो के विकास से ही आत्मा का विकास होना है।

आत्म विश्वास—सब से पहले आत्म-विश्वास की आवश्यकता है। जो व्यक्ति अपना विकास चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक है, कि वह आत्म-सत्ता मे विश्वास करने का निरन्तर अभ्यास करता रहे। रूस के प्रसिद्ध लेखक गोर्की ने एक वार किसानो की एक विशाल सभा मे भाषण करते हुए कहा था, कि—"याद रखो, तुम इस धरती पर सब से अधिक महत्त्व पूर्ण व्यक्ति हो"—"Remember! you are the most necessary men on the earth." जब तक व्यक्ति स्वय अपने आप को आवश्यक नही मानता, तब तक दूसरे उसे क्यो आवश्यक मानेगे? आत्म-विश्वास की कमी के कारण मनुष्य किसी भी महान् कार्य को सम्पन्न नही कर सकता। आश्चर्य तो इस बात का है, कि अनन्त शक्ति सम्पन्न होने पर भी मनुष्य अपने-आप को तुच्छ, पामर, दीन और हीन समझता है। विकास के लिए अपनी शक्ति पर विश्वास करना आवश्यक है।

आत्म-ज्ञान—आत्म-ज्ञान का अर्थ है—अपने आप को पहचानना। मनुष्य दूसरो को जानने और समझने का तो प्रयत्न करता है, परन्तु वह अपने को भूल बैठता है। "मै कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? और मेरी शक्ति क्या, कैसी और कितनी है?" इन प्रश्नो का समाधान पा लेना ही वास्तव मे आत्म-ज्ञान है। मनुष्य जितना अपने पडोसी को समझने का प्रयत्न करता है, उतना अपने को समझने का प्रयत्न वह नही करता। और यही उसकी दुर्बलता है। मनुष्य ने बहुत कुछ सीखा है। सस्कृति, कला, विज्ञान, इतिहास और समाज—इन सब को समझने का वह आज दावा करता है। परन्तु क्या कभी उसने अपने चेतन तत्त्व को भी परखने का प्रयत्न किया है? नभ, जल और स्थल—सर्वत्र

मनुष्य के कदम पहुँच चुके हैं। परन्तु यह निश्चित है, कि उसने अभी तक अपने अन्दर झाँककर नही देखा।

आत्म विशुद्धि—आत्म-विशुद्धि का अर्थ है—आत्म-सयम। आत्म-सयम के विना तो विकास की कल्पना भी नही की जा सकती। विश्वास हो, और साथ मे ज्ञान भी हो, पर चलने की ताकत न हो, तो फिर सब कुछ व्यर्थ ही है। आत्मा के विकारो का दमन करना ही विशुद्धि है। इसी को सयम और आचार भी कहते है। विश्वास को ज्ञान मे उतरने दो, ज्ञान को क्रिया मे उतरने दो, तभी विकास हो सकेगा। विश्वास, ज्ञान और आचार—ये तीन कितने पवित्र शब्द है। इनकी पवित्रता को जीवन के कण-कण मे रमने दो। फिर देखो, तुम क्या थे, अब क्या हो गए हो ?

"आत्मा मे अनन्त शक्ति है।" इस पर विश्वास करो, इसका चिन्तन और मनन करो, फिर अपनी सच्ची राह पर चल पडो। इससे बढकर विकास का अन्य कोई मार्ग नही है।

३२

मन के विकार

मनुष्य की जिस मनोभूमि मे विचार उत्पन्न होता है, वही पर विकार भी उत्पन्न होता है। विचार से विकास होता है, और विकार से विनाश। मन मे जब विचार भरे होगे, तब वहाँ विकारो को स्थान ही कहाँ मिलेगा ? जहाँ प्रकाश होगा, वहाँ अन्धकार आ ही कैसे सकेगा ? विचार प्रकाश है, और विकार अन्धकार। मन मे असख्य प्रकार के विकार उत्पन्न हो सकते है। परन्तु यहाँ पर मुख्य-मुख्य विकारो का ही परिचय दिया जाएगा।

भावुकता—भावुकता मन का एक विकार है। भावुकता मनुष्य को असामाजिक बना देती है। इस भावनात्मक विकार का जन्म मनुष्य मे बाल्य-काल से ही हो जाता है। भावुक व्यक्ति मे विचार करने की शक्ति नही रहती। भावना के तीव्र वेग मे वह इतना प्रवाहित हो जाता है कि अपनी शक्ति का

सन्तुलन और उपयोग भी वह नही कर पाता। अपने आप को जब तक भावुक व्यक्ति किसी ठोस काम मे सलग्न नही कर लेता, तब तक वह भावुकता के विकार से मुक्त नही हो सकता। भावुक व्यक्ति यथार्थवाद को भूलकर केवल आदर्शवादी बन जाता है। जहाँ विचार की आवश्यकता होती है, वहाँ भी वह भावना की तरल तरगो मे बहने लगता है।

मानसिक रोग का एक रूप यह भी है, कि मनुष्य अपनी अतिशय भावुक मनोवृत्ति के कारण समाज के साथ सम्पर्क नही बना सकता, क्योकि वह एक प्रकार से स्वप्न-दर्शी बन जाता है। पलायनवाद की वृत्ति उसमे जड जमाकर बैठ जाती है। सामाजिक समरसता का उसमे अभाव हो जाता है, और वह एकान्त मे बैठकर दिवा स्वप्न ही देखा करता है। कर्म करने की क्षमता उसमे नही रहती।

लोभ—सग्रह की वृत्ति ससार के प्रत्येक प्राणी मे कम अथवा अधिक रूप मे मिलती है। शास्त्र मे इसको परिग्रह सज्ञा कहा गया है। परन्तु जब यह वृत्ति अतिवाद की रेखा को पार कर लेती है, तब वह एक विनाशकारी विकृति बन जाती है।

धन का लोभ आज के ससार मे सब से बडा बन्धन बन गया है। यह ठीक है, कि धन के बिना जीवन के उपयोगी कार्य नही हो पाते, किन्तु धन को ही लक्ष्य मानकर जीना और धन के लिए ही मर मिटना, एक प्रकार का पागलपन ही है। धन का सब से बडा उपयोग है—सुख और सुरक्षा। पर यह सब से बडा धोखा है। धन सुख ही देता, तो धनी दुखी क्यो होता? धन मे ही जीवन की सुरक्षा हो सकती, तो धनी क्यो मरता? अत धन

को ध्येय समझना एक विकार है। विश्वास करो—"धन साधन है, साध्य नही।"

क्रोध—क्रोध भी मन का एक विकार है। क्रोध मन को विकृत कर डालता है। क्रोध का आधार मनुष्य की अपनी मनोवृत्ति है, न कि वह वस्तु जो क्रोध का लक्ष्य बनती है। असयत क्रोध, एक वह विकार है, जो मनुष्य के मन को, बुद्धि को और शरीर को भी अशक्त कर डालता है। बिना विवेक-बुद्धि के क्रोध पर विजय पाना कठिन है। क्रोध आने पर मनुष्य को अपने आप से ये प्रश्न पूछने चाहिएँ—

१ मै किस लिए क्रोध करता हूँ ?
२. क्या क्रोध का कारण सच्चा है ?
३ मेरे क्रोध का दूसरो पर क्या प्रभाव पडेगा ?
४. क्या क्रोध करने से परिस्थिति मे परिवर्तन आ सकेगा ?
५. यदि नही, तो फिर मै व्यर्थ क्रोध क्यो करूँ ?

इन प्रश्नो पर गम्भीरता से विचार करने पर क्रोध का वेग कम होता जाएगा।

काम—काम, मन का सब से भयकर विकार है। कामी मनुष्य को कही पर भी शान्ति नही मिल पाती। वह सर्वत्र तिरस्कार ही पाता है। काम के विकार से मन चचल हो जाता है, बुद्धि मलिन हो जाती है और शरीर क्षीण हो जाता है। काम के ताप से परितप्त मनुष्य सदा आकुल-व्याकुल बना रहता है। कामी मनुष्य न ससार की साधना कर सकता है, और न मोक्ष की साधना ही कर सकता है। ब्रह्मचर्य की कठोर साधना से इस विकार को जीता जा सकता है।

भय—मनुष्य के मन के विकारो मे भय भी एक भयकर विकार है। भयानकता किमी वस्तु मे नही होती, वह होती है—मनुष्य के मन की कायरता मे। ग्रात्म-विश्वास की कमी से ही भय उत्पन्न होता है। ग्रमफलता की भावना से मनुष्य भयभीत हो उठता है। ग्रपनी ग्रसुरक्षा की मम्भावना भी मन मे भय को पैदा करती है। जिस काम से ग्रापको भय लगता है, वही करो, भय पर विजय पा सकोगे।

संशय—जिस व्यक्ति को ग्रपनी साधना मे सशय होता है, वह कभी सफल नही हो सकता। सशय-शील व्यक्ति को हर समय यही ध्यान रहता है, कि लोग उसकी ग्रालोचना कर रहे है, उसके विरुद्ध षडयन्त्र रच रहे है। यह दुर्भावना जव मनुष्य के मन को चारो ग्रोर से घेरे लेती है, तो उसे लगता है, कि सारी दुनिया उसकी दुश्मन है, उमका दोस्त कोई नही है। ग्रपनी शक्ति ग्रौर योग्यता पर विश्वास न होने के कारण ही मनुष्य के मन मे सशय उत्पन्न होता है। ग्रात्म-श्रद्धा ग्रौर ग्रात्म-विश्वास मे ही सशय के विकार को नष्ट किया जा मकता है।

इस प्रकार के मनोविकार ग्रस्वस्थ मन मे ही उत्पन्न होते है। जिम प्रकार शरीर के रोग शरीर को दुर्वल वना डालते हैं, उसी प्रकार मन के विकार मन को निर्वल वना देते है। इन विकारो को दूर करके ही मनुष्य ग्रपने मन को स्वस्थ एवं वलवान् वना मकता है।

३३

शक्ति का स्रोत : ब्रह्मचर्य

आध्यात्मिक विकास, मानमिक उन्नति और शारीरिक अभिवृद्धि के लिए ब्रह्मचर्य की परम आवश्यकता है। वीर्य एक शक्ति है, जिसका सरक्षण अध्यात्म-दृष्टि से ही नही, भौतिक दृष्टि से भी आवश्यक है। ओजस्, तेजम् और कान्ति—ये सब वीर्य शक्ति के ही चमत्कार है। वीर्य की महत्ता का इससे प्रवल प्रमाण और क्या होगा, उसी से जीवन की उत्पत्ति होती है। वह प्राणी को वनाने वाला एक प्राण-दायक तत्त्व है। 'सुश्रुत' मे वीर्य की परिभापा करते हुए कहा गया है—"प्रभूत-कार्य-कारिणि गुणे वीर्यम्।" अर्थात्—वीर्य उस वस्तु को कहते है, जिसमे विशेप कार्य करने का गुण हो। प्राणी के शरीर मे प्रवान तत्त्व वीर्य ही होता है। वीर्य ही शरीर को पुष्टि देता है, वही रोगो के वाहरी आक्रमण से उसे वचाता है और मन की धीरता, गम्भीरता एव शान्ति को वरकरार रखता है। यह वात तो स्पष्ट ही है, कि

वीर्य-हीन की अपेक्षा वीर्य-सम्पन्न व्यक्ति—अधिक बलवान्, अधिक योग्य और अधिक सक्षम होता है।

'सुश्रुत' मे कहा है, कि—"अन्नात्रेत: सम्भवति" अर्थात् वीर्य अन्न से बनता है। अत इसको अन्न-विकार भी कहते है। आहार की शुद्धता से ही शुद्ध वीर्य बनता है। उत्तेजक पदार्थों के सेवन से और मादक द्रव्यो के सेवन से वह विकृत हो जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप चित्त मे चचलता और शरीर मे विकार की उत्पत्ति होने लगती है। अत ब्रह्मचर्य के परिपालन के लिए शुद्ध एव सात्त्विक आहार ही लेना चाहिए।

मन की वासना से भी वीर्य प्रभावित होता है। मन मे वासना उठने पर उत्तेजना होती है। वासना के बार-बार उठने पर शरीर की शक्ति का ह्रास होता है। अत ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए मानसिक सयम आवश्यक है। बिना सयम के ब्रह्मचर्य का पालन नही किया जा सकता।

मनुष्य के शरीर का तत्त्व भाग वीर्य है। बुद्धिमान् लोग वीर्य-रक्षा को जीवन का लक्ष्य बिन्दु मानते है। वीर्य के नाश से जीवन का विनाश हो जाता है। भोजन से पहले जो तत्त्व बनता है, उसे रस कहते है। रस से रक्त, रक्त से मास, मास से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से 'वीर्य' बनता है। शरीर की भौतिक शक्तियो का अन्तिम सार वीर्य है। आयुर्वेद के इस सिद्धान्त को पाश्चात्य पण्डितो ने भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। आयुर्वेद के अनुसार वीर्य का स्थान सम्पूर्ण शरीर है।

पाश्चात्य शरीर-विज्ञान के पण्डित वीर्य को सात धातुओ का सार नही मानते। उनके कथनानुसार वीर्य सीधा रक्त से उत्पन्न

होता है। वे लोग उसे सम्पूर्ण शरीरस्थ भी नही मानते है। परन्तु दोनो विद्वान् इस विपय मे एक मत है, कि वीर्य शरीर का एक महामूल्यवान् तत्त्व है।

वीर्य की अभिवृद्धि और उसकी क्षति का सीधा प्रभाव मनुष्य के मस्तिष्क पर भी पडता है। बुद्धि को सतेज बनाए रखने के लिए और शरीर को सक्षम बनाए रखने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन परम आवश्यक है। शरीर से, इन्द्रियो से, मन से और बुद्धि से इस व्रत का पालन होना चाहिए। इन्द्रिय-निग्रह और मनोनिरोध के बिना इस व्रत का पालन सम्भव नही है।

नेत्र और रूप—रूप, नेत्र का विपय है। मनुष्य के मनोविकार को जागृत करने के लिए नेत्र बहुत काम करते हैं। जिधर आँखें उठाते है, उधर ही उन्हे खीचने वाले प्रलोभन नजर आते हैं। नाटक, सिनेमा, नृत्य, सगीत और रग-रूप—ये सब मिलकर मन पर आक्रमण करते है, प्रसुप्त मन को जागृत करते है। प्राचीन ऋपियो ने "नर्तन गीत वादन" कहकर इन सब का निषेध किया है। ब्रह्मचर्य के नियमो मे दर्पण देखने का भी निषेध किया है, क्योकि दर्पण मे देखने से भी विकार जागृत होता है। अतः नेत्र-सयम ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है।

श्रोत्र और शब्द—शब्द, श्रोत्र का विपय है। नृत्य के साथ-साथ कान के व्यसन गीत आदि का भी ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले के लिए निपिद्ध है। गाने-बजाने का अधिकार ब्रह्मचारी को नही दिया गया, क्योकि गाना-बजाना ब्रह्मचर्य मे हानिकर है।

घ्राण और गन्ध—गन्ध, घ्राण का विपय है। बाजार तरह-तरह के गन्धो से भरा पडा है। फूलो से जो सुगन्धित पदार्थ

बनते हैं, वे भी मनुष्य की वासना को उद्बुद्ध करते है। ब्रह्मचारी के लिए फूल, इत्र और चन्दन आदि पदार्थो का निषेध इसी भावना से किया गया है। सादा जीवन और उच्च विचार ही ब्रह्मचारी का परम धर्म है।

स्पर्शन और स्पर्श—स्पर्श, स्पर्शन का विषय है। स्पर्श, वासना का आदि और अन्त है। स्पर्श वासनामय मनोभावो को जागृत करने का सब से बडा साधन है। जो व्यक्ति स्पर्श की भयानक आँधी से बच जाता है, वह उनके बुरे परिणामो से भी बचा रहता है।

रसना और रस—रस, रसना का विषय है। रसीले और मादक पदार्थ ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध है। खटाई, मिठाई, मिरच-मासले और सुरा, तम्बाकू, भङ्ग, चाय एव काफी आदि का सेवन ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। इन सब का ब्रह्मचर्य पर बहुत बुरा असर होता है। शरीर की रक्षा के लिए भोजन तो आवश्यक है, परन्तु पेटूपन तो एक प्रकार का रोग ही है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए तामसिक और राजसिक भोजन का निषेध है। केवल सात्त्विक भोजन से ही ब्रह्मचर्य की रक्षा हो सकती है।

पहला नियम—ब्रह्मचर्य का अर्थ है—वासना जय। किसी भी बुरी आदत को छोडने का पहला नियम यह है, कि अपनी पूरी इच्छा-शक्ति लगा दो अपने मन मे सकल्प करो, कि—"मै इस बुरी आदत को छोड रहा हूँ, बिल्कुल छोड रहा हूँ। अब फिर कभी इस बुरे काम को मैं नही करूँगा।"

दूसरा नियम—जब तक नयी आदत पूरी तरह से जीवन मे स्थान न बना ले, तब तक एक क्षण के लिए भी उसमे ढील न

होने दो। युद्ध मे छोटी-सी भी विजय आगे आने वाली बडी विजय मे सहायक होती है। इसी प्रकार छोटी-सी पराजय भी और पराजय की तरफ ले जाती है। 'एक वार और' वस यह ढील ही इच्छा-शक्ति को, सकल्प वल को कमजोर वनाती है। अत सावधानी आवश्यक है।

तीसरा नियम—जो सकल्प करो, उसे क्रिया मे लाने का जो भी मौका मिले, उसको कसकर पकड लो। अवसर यदि हाथ से निकला, तो सदा के लिए ही निकला समझो। वीता समय कभी लौटकर नही आता। शुभ सकल्प को जितना जल्दी हो सके, आचरण मे उतारने का प्रयत्न करो।

चौथा नियम—जो आदत डालना चाहते हो, उसके सम्वन्ध मे कुछ न कुछ काम प्रतिदिन किया करो। समस्या और उलझन से परेशान और हैरान होने की जरूरत नही है। उनका हल निकालने का प्रयत्न करो, सफलता अवश्य ही मिलेगी।

'ब्रह्मचर्य' यह एक चार अक्षरो का छोटा-सा शब्द है, किन्तु इसका भाव वहुत गम्भीर है। 'वीर्य' रक्षा ब्रह्मचर्य का स्थूल रूप है। 'ब्रह्म' का अर्थ है—महान् और 'चर्य' का अर्थ है—विचरना। अर्थात् 'महानता मे विचरना ही वस्तुतः ब्रह्मचर्य है। लघु से विराट् होना ब्रह्मचर्य है।'

३४

तुलनात्मक-विचार

भिक्षु जीवन की गति-विधि के सम्बन्ध मे जैनागमो मे वहुत कुछ लिखा है। क्यो नही, श्रमण सस्कृति का केन्द्र विन्दु भिक्षु ही रहा है। अत उसके साधनामय जीवन के सम्बन्ध मे जैनागमो मे विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रस्तुत लेख मे सुप्रसिद्ध आचार शास्त्र "दशवैकालिक" की एक गाथा उद्घृत की जा रही है, जिस मे बतलाया गया है, कि भिक्षु को गृहस्थ के घर से भिक्षा किस प्रकार ग्रहण करनी चाहिए।

वौद्ध धर्म भी श्रवण सस्कृति का अङ्गभूत रहा है। अत. वौद्ध पिटको मे भी भिक्षु जीवन का विधि-विधान उपलब्ध होता है। वौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ "धम्म पद" मे भी एक गाथा ऐसी मिल रही है, जो "दशवैकालिक" की गाथा से शब्द, अर्थ और भाव—तीनो मे वहुत कुछ मिलती-जुलती सी है। मै

पाठको के समक्ष दोनो गाथाएँ रख रहा हूँ। आप पढिए और विचार कीजिए कि दोनो मे कितनी समता रही हुई है।

"जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रस,
ण य पुप्फ किलामेइ सो य पीणेइ अप्पय।"

अर्थात्—"जैसे वृक्ष के फूलो पर आकर भ्रमर फूलो को जरा भी हानि न पहुँचा कर, उचित मात्रा मे रसपान करके अपने आपको परितृप्त कर लेता है, वैसे ही भिक्षु भी गृहस्थ के घर मे उचित भक्त-पान ग्रहण करके अपना जीवन निर्वाह करता रहता है।"

अब जरा "धम्म पद" गाथा भी पढिए—

"यथापि भमरो पुप्फ वण्णगन्धं अहेठय
पलेति रसमादाय एव गामे मुनी चरे।"

अर्थात्—"जैसे भ्रमर पुष्प के रूप और गन्ध को क्षति पहुँचाए विना ही रसपान करके दूर भाग जाता है, वैसे ही भिक्षु को भी गृहस्थ के घर से थोडा भोजन लेना चाहिए।"

प्रतिपाद्य विषय—जैनागमो मे भिक्षु के लिए "महुगार समा" अर्थात् "मधुकर समा" विशेषण आता है। जिसका अर्थ है—भ्रमर के समान जीवन विताने वाला। जिस प्रकार भ्रमर किसी एक ही फूल के आश्रित न होकर, अनेक फूलो से थोडा-थोडा रस-सचय करके अपनी आत्मा की परितृप्त कर लेता है, उसी प्रकार भिक्षु भी गृहस्थ के घरो से अपनी विधि के अनुसार भक्त-पान ग्रहण करता है। जहाँ से मिला और जैसा मिला, खा पीकर अपनी साधना मे रत रहता है। वह जीवित रहने के लिए भोजन करता है, भोजन करने के लिए जीवित नही रहता। जैनागमो मे

अनेक स्थानो पर "गोचरी" मधुकरी और भ्रमर-वृति का उल्लेख मिलता है। वैदिक साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "मनुस्मृति" मे भी सन्यासी के लिए मधुकरी का विधान है। अतएव जैनागमो मे "अहागडेसु रीयन्ते" कहा है। जिसका तात्पर्य है, कि भिक्षु गृहस्थ के घर जैसा भोजन तैयार है, उसी मे मे थोडा सा ग्रहण कर लेता है। स्वय के लिए वनाया हुआ ग्रहण नही करता।

शब्द साम्य और छन्द—दोनो गाथाओ मे शब्द प्राय एक जैसे ही है, क्योकि अर्धमागधी और पाली भाषा मे बहुत समानता है। भेद केवल इतना ही है कि पाली भाषा सस्कृत भाषा से अधिक निकट है, जब कि अर्धमागधी कुछ दूरवर्तिनी रहती है। पाली मे "तथापि" और "रसमादाय" आदि पद अविकल रूपेण प्रयुक्त है, परन्तु मागधी मे यथा का—"जहा" और "आपिवति" का "आवियइ" रूप वन जाते है। फिर भी उक्त गाथाओ की भाषा मे कोई विशेप अन्तर दृष्टिगोचर नही होता।

भाषा के मुख्य गुण है—प्रसाद और माधुर्य। "धम्मपद" की गाथा मे वैसा प्रसाद तथा माधुर्य नही है, जैसा "दशवैकालिक" की गाथा मे देखा जाता है। उसकी भाषा मे दुरूहता भी नही है, जबकि "धम्मपद" की गाथा मे "अहेठय" पद का अर्थ साधारण मनुष्य नही समझ पाता। प्रसाद, माधुय और सुवोध्यता की दृष्टि से "दशवैकालिक" की गाथा श्रेष्ठ एव सुन्दर है।

भाषा के साथ छन्द का भी सम्बन्ध है। वैसे तो "धम्मपद" और "दशवैकालिक" सूत्र मे उपजाति छन्द का भी प्रयोग किया गया है। अनुष्टुप् छन्द का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। प्राय औपदेशिक और दार्शनिक ग्रन्थो मे इसी छन्द का प्रयोग अधिक मिलता है।

अलकार—अलकार का अर्थ है—काव्य की सजावट। अलकार शास्त्र मे "उपमा" वहुत ही प्रसिद्ध अलकार रहा है। उपमा का अर्थ है—लिखने का एक ढग, जिसे अग्रेजी मे Style स्टाइल कहते हैं। उपमा अगर सुन्दर हो और उसका व्यवहार उचित स्थान पर किया जाए, तो उससे काव्य का सौन्दर्य वढता है। उपमा का प्रयोग रचना का एक खास ढग है। काव्य की बात छोडिए, रोज की वोलचाल मे भी हम उपमाओ का प्रयोग किया करते हैं। जैसे कि "ताड-सा लम्वा" चाँद-सा मुखडा और कमल से नेत्र आदि।

जैनागमो मे भी अलकारो का और विशेपत उपमा का खुलकर प्रयोग किया गया है। उपमा के द्वारा किसी भी गहन विपय को बडी सरलता से समझाया जा सकता है।

उक्त दोनो गाथाओ मे उपमा अलकार है, और उसके द्वारा शास्त्रकारो ने भिक्षु जीवन की महत्ता वडे सुन्दर ढग से प्रतिपादित की है। यहाँ भिक्षु उपमेय है और भ्रमर उपमान, गृहस्थ उपमेय है और पुष्प उपमान। गृहस्थ को पुष्प वतलाकर भिक्षु को भ्रमर वतलाया गया है। यह उपमा कितनी सुन्दर रही है। इस ढग की उपमाएँ आगमो मे स्थान स्थान पर उपलब्ध हो सकती है। उपमा के द्वारा वक्तव्य विपय को समझाने का ढग वहुत ही प्राचीन काल से चला आ रहा है।

भावाभिव्यक्ति—भावो की अभिव्यक्ति, भावनाओ की अभिव्यजना और भावो का सुन्दर ढग से प्रकटीकरण जैसा दशवैकालिक सूत्र की गाथा मे वन पडा है, वैसा धम्म-पद की गाथा मे नही। "भमरो आवियइ रस" मे जो सौन्दर्य है,

वह "पलेति रसमादाय" मे नही है। अर्थात् भ्रमर रस लेकर भाग जाता है। भागना तो भय से होता है। क्या रस-पान करते समय उस पर कोई प्रहार करता है ? जिससे वह भाग खडा होता है। और "रसमादाय" इससे कोई मर्यादा द्योतित नही होती। "आवियइ रस" भ्रमर पुष्पो से रस-पान करता अवश्य है। परन्तु मर्यादा से, उचित मात्रा मे ही पान करता है। "आङ्पूर्वक पा" धातु का अर्थ है—मर्यादा से पान करना। गाथा के चतुर्थ चरण मे यह भी बतला दिया कि भ्रमर ने अपनी परितृप्ति भी कर ली और पुष्प को किसी प्रकार की क्षति भी नही पहुँचाई। "सो य पीणेइ अप्पय" से कितनी सुन्दर भावाभिव्यक्ति हो रही है। और "किलामेइ" का जो महत्त्व है, वह "अहेठय" का नही हो सकता।

परन्तु धम्म-पद गाथा की अपनी एक विशेषता भी है, जो दूसरी गाथा मे नही है। वहाँ पुष्प का एक विशेषण भी है, "वण्ण गन्ध" भ्रमर पुष्प के वर्ण और गन्ध को क्षति नही पहुँचाता। मात्र रस को ही ग्रहण करता है। यहाँ पुष्प का "वण्ण गन्ध" विशेषण बहुत ही सुन्दर रहा है।

सक्षेप-विस्तार—"गागर मे सागर" भर देना ग्रन्थकार का एक बहुत बडा गुण माना जाता है। धम्म-पद की गाथा मे उक्त गुण सुन्दर ढग से प्रयुक्त हुआ है। उसके चतुर्थ चरण मे "एवगामे मुनी चरे" कहकर कमाल कर दिया है। दशवैकालिक की चार गाथाओ मे जो भाव है, वह सब इस एक ही गाथा मे अभिव्यक्त हो गया है। इसका कारण यह है कि इसमे "उपमेय" (मुनि) पद का समावेश है, जब कि दूसरी गाथा मे उसका निर्देश नही किया

गया है। सक्षेप की दृष्टि से धम्म-पद की गाथा बहुत सुन्दर रही है।

इस ऊहापोह से यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि जैनधर्म के आचार-विचार की छाप बौद्ध साहित्य पर स्पष्ट झलक रही है। भिक्षु जीवन से सम्बन्धित बौद्ध गाथा, जैन गाथा का शब्दश और भावत अनुवाद मात्र है। इस प्रकार और बहुत-सी गाथाएँ भी मिलती है। परन्तु यहाँ उक्त गाथाओ पर ही विचार किया है।

३५

महाप्राण वीर लोकाशाह

जैन-संस्कृति का मूल बीज है—"विचार और आचार।" गम्भीर चिन्तन और प्रखर आचार—"स्थानकवासी जैन-संस्कृति का यही मूल केन्द्र है। स्थानकवासी जैन-धर्म का मौलिक आधार है—चैतन्य देव की आराधना और विशुद्ध-चारित्र की साधना। साधक को जो कुछ भी पाना है, वह अपने अन्दर से ही पाता है। विचार को आचार का रूप देना है।"

धर्म-प्राण लोकाशाह ने यही तो किया। समाज जब स्थूलत्व की ओर आकर्षित हो रहा था, तब वीर लोकाशाह ने कहा—"यह धर्म का मङ्गलमय मार्ग नहीं। धर्म तो आत्मा की वस्तु है। उसे बाहर मे मत देखो।" सन्त संस्कृति का जो मूल स्वर था, लोकाशाह की वाणी मे वही झंकृत था।

ज्ञानी होने का सार है—संयमी होना। संयम का अर्थ है—अपने आप पर नियन्त्रण रखना। यह नियन्त्रण किसी के दबाव से

नही, स्वतः सहज भाव मे होना चाहिए। मानव जीवन मे संयम व मर्यादा का बड़ा महत्त्व है। जब मनुष्य अपने आपको सयम व मर्यादित रखने की कला हस्तगत कर लेता है, तब वह सच्चे अर्थ मे ज्ञानी होता है।

भौतिकता से हट कर अध्यात्म-भाव मे स्थिर हो जाना, यही तो स्थानकवासी जैन-धर्म का स्वस्थ और पूर्ण दृष्टिकोण कहा जा सकता है। आत्म-देव की आराधना के साधन भी अमर ही होने चाहिए। शाश्वत की साधना अशाश्वत से नही की जा सकती।

लोकाशाह एक ऐसे युग मे आया, जब कि भारत अन्दर की ओर न निहार कर बाहर की ओर झाँक रहा था। जन यह भूलता जा रहा था, कि जिनत्व, निजत्व मे नही, कही बाहर मे है। स्थानकवासी धर्म ने नारा लगाया कि—"यदि जिनत्व पाना हो, तो निजत्व की साधना करो।"

उस युग के क्रान्तिकारी वीर लोकाशाह ने कहा—

"सर्वतो महान् वह है, जो अपने को अपने अनुशासन मे रख सकता है। सयम से ही विकारो का दमन होता है, और विचारो का उन्नयन होता है।"

जीवन विकास का यह मूल मन्त्र है, जो उस युग की जनता को लोकाशाह ने दिया था। वीर लोकाशाह के विशुद्ध विचारो का विरोध भी तो बहुत हुआ, पर उस वीर ने विरोध मे भी विनोद ही माना।

लोकाशाह ने उस युग के साधको को सलक्ष्य करके कहा—"सयम का ध्येय आध्यात्मिक उन्नयन है, न कि अपने आदर-

सत्कार की सयोजना। जो व्यक्ति सयम-हीन है, वह ज्ञान-हीन भी होगा ही। क्योकि सयम-साधना युक्त ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। अन्यथा "ज्ञानं भार क्रियां विना।"

स्थानकवासी जैन-धर्म की विशुद्ध परम्परा प्रखर आचार और चैतन्य देव की आराधना, साधना और उपासना मे ही है। आचार और विचार का सन्तुलन ही वस्तुतः धर्म का आधार है।

लोकाशाह का सम्पूर्ण जीवन विचार और आचार के समन्वय मे ही व्यतीत हुआ था। जीवन की विकृति उसे रुचिकर नही थी। वह जिनत्व सस्कृति का उपासक था।

महाप्राण वीर लोकाशाह आज नही है, परन्तु उसके विचार आज भी समाज को अनुप्राणित कर रहे है। जिस विचार-ज्योति को लेकर वह चला था, वह आज भी राह भूले राहियो को सही राह की ओर इशारा कर रही है।

३६

विचार-कण

श्रमण सस्कृति हो या ब्राह्मण सस्कृति, हमे नाम पर सघर्ष नही करना है। हमारे पाम तो सस्कृति के सस्कृतित्व को नापने का एक ही गज है। जो सस्कृति मानव-समाज के लिए यह सन्देश देती हो कि—"तुम खुद जिन्दा रहो और दूसरो को भी जिन्दा रहने दो"—वही सस्कृति वस्तुत सच्ची सस्कृति है। इतना ही नही, सस्कृति को आगे बढकर यह भी अमर प्रेरणा देनी होगी कि समय आने पर दूसरो को जिन्दा रखने के लिए योग्य सहायता भी दो, सेवा भी करो। और हाँ, सस्कृति की अन्तिम भूमिका पर पहुँचने के लिए, कभी किसी पर मरण-मूलक सकट काल आ पडे तो दूसरो के जीवन की रक्षा के लिए अपना जीवन तक भी हर्ष-भाव से अर्पण कर दो। है कोई ऐसी सस्कृति, जो अपने को इस जीवनोत्सर्ग की कसौटी पर कसने के लिए तैयार हो?

× × × ×

मनुष्य। तेरे पढने के लिए सबसे अच्छी पुस्तक तू स्वय ही है। तेरे अन्दर मे जीवन के रहस्य एक नही, दो नही, हजार नही, लाख नही, करोड नही, अर्ब नही, अपितु अनन्त है—अनन्त। जब तू अपने अन्दर झाँकेगा, तो सब भेद खुलकर स्पष्ट हो जाएँगे।"

किसी दार्शनिक का यह सिद्धान्त, वह सिद्धान्त है, जो मानव-जाति के लिए कभी भी भूलने की चीज नही है—"मनुष्य ही मनुष्य के लिए सबसे अधिक अध्ययन करने की वस्तु है।"

× × × ×

वही समाज और राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ है, जिसकी गोद मे अधिकाधिक उदार, सयमी, तपस्वी, दयालु और प्रसन्न आत्माएँ फलती-फूलती हो। और जो समय पर जीने और मरने की कला जानता हो। और जिसका सबसे बड़ा देवता या ईश्वर मनुष्य हो। और जो भू-मण्डल-भर की श्रेष्ठता एव नैतिकता को अपने जीवन मे सहर्ष आत्मसात् कर सके!

× × × ×

त्याग एव तपस्या का प्रतीक ब्राह्मण है, शक्ति एव संयम का प्रतीक क्षत्रिय है, सग्रह एव वितरण का प्रतीक वैश्य है तथा सेवा का प्रतीक शूद्र है। इनमे कोई उच्च नही, कोई नीच नही। चारो वर्ण एक-दूसरे के पूरक बनकर राष्ट्र को अभ्युदय एव नि श्रेयस के सर्वोच्च शिखर तक ले जाने मे पूर्णतया समर्थ एव सफल हो, इसी भावना से प्रेरित होकर उक्त सामाजिक व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ था। दुर्भाग्य से वह शृङ्खला आज टूट चुकी है। आज रह गया है, केवल जन्म-जात जातीय अहकार या हीन भाव। एक तरफ ऊचे-ऊँचे टीले हो गए है, तो दूसरी तरफ

गहरे गहरे गड्ढे। इस अन्तर को मिटाने मे ही, जन्म के स्थान पर कर्म को महत्व देने मे ही जनता का कल्याण है।

× × × ×

कभी कुछ क्रान्तियाँ आंधी की तरह आती हैं और पानी की तरह बह जाती हैं। आँधी जब आती है, तो क्या होता है? जमीन और आसमान एक रूप हो जाते हैं, एक भूकम्प! एक झटका! धक्के पर धक्के! ऐसा मालूम होता है, मानो सब उड जाएगा, अब कुछ भी स्थिर न रह सकेगा! परन्तु आंधी का जीवन कितना क्षण-भगुर! वृक्षो को गिरा देना, छप्परो को उडा देना, सब ओर कूडा ही कूडा फैला देना, यही तो काम है आँधी का। जरा से जीवन मे इतनी अव्यवस्था! इतनी तोड-फोड! ऐसी क्रान्ति हमे नही चाहिए। हमे चाहिए विकाश की क्रान्ति, व्यवस्था की क्रान्ति!

× × × ×

घास जितनी जल्दी उगती है, उतनी ही जल्दी सूख भी जाती है। वट-वृक्ष का विकाश जितना ही धीरे-धीरे होता है, उतना ही वह स्थायी तथा पीढियो तक चलने वाला होता है! बताओ तुम्हे घास बनना है या वट वृक्ष! विकाश के प्रति शीघ्रता न करो! यदि प्रगति धीमी है, तो कोई हानि नही! वह तुम्हारे लिए वरदान प्रमाणित होगी! धुआँधार वर्षा की अपेक्षा रिम-झिम वर्षा अधिक लाभप्रद है! तूफानी वर्षा का जल वह जाता है, परन्तु रिम-झिम बरसने वाला जल भूमि मे गहरा बैठ जाता है, खेतो को हरा-भरा कर देता है!

× × × ×

भवन-निर्माण के कार्य मे कुशल राज एक ईट से दूसरी ईंट किस प्रकार जोडता है, दो ईटो के बीच कभी दरार न पडे, इसके लिए वह किस मसाले का उपयोग करता है, ईंट अच्छी हो— इसके लिए वह उसे जोडने के पहले किस प्रकार ठोक-बजा कर देखता है और ईटो का अलग-अलग अस्तित्व समाप्त कर उन सब को लोगो के सामने एक भवन के रूप मे किस प्रकार प्रदर्शित करता है, यह देखना और समझना मानव के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जीवन का महल भी इसी तरह खडा होगा। जितना अच्छा सगठन होगा, जितनी अच्छी एक रूपता होगी, उतना ही अच्छा एव चिरस्थायी परिवार, समाज और राष्ट्र का जीवन होगा। ताश के पत्तो के महल की तरह असगठित जीवन जितना जल्दी बनता है, उतना ही जल्दी वह क्षण-भगुर भी होता है।

३७

सर्वोदय तत्त्व-दर्शन

धर्म, दर्शन और विज्ञान—परस्पर सम्बद्ध हैं, अथवा एक दूसरे से सर्वथा विपरीत है ? मानव जीवन के लिए तीनो कहाँ तक उपयोगी हैं ? मै समझता हूँ कि ये प्रश्न आज नही तो कल अवश्य अपना समाधान मागेंगे - माँग चुके है। धर्म और दर्शन मे तो आज ही नही, युग-युग से साहचर्य रहा है, आज भी है। धर्म का अर्थ है—आचार। दर्शन का अर्थ है—विचार। भारतीय धर्मों की प्रत्येक शाखा ने आचार और विचार मे, धर्म एव दर्शन मे समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। गीता मे साख्य-बुद्धि और योग-कला का सुन्दर समन्वय किया गया है। बौद्धो मे हीनयान और महायान—आचार तथा विचार के क्रमिक विकास के बीजभूत है। हीनयान धर्म (आचार) प्रधान रहा, तो महायान दर्शन (विचार) प्रधान बन गया। जैनो मे धर्म और दर्शन के नाम पर आचार तथा विचार को लेकर

साख्य-योग एव हीनयान-महायान जैसे स्वतन्त्र विभेद तो नही पड सके। क्योकि एकान्त आचार तथा एकान्त विचार जैसी वस्तु अनेकान्त मे कथमपि सम्भवित ही न थी। आचार्यो ने आचार मे अहिसा और विचार मे अनेकान्त पर विशेष वल दिया अवश्य फिर भी यहाँ धर्म और दर्शन अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित नही कर सके। दोनो का गगा-यमुना रूप ही अनेकान्त मे फिट बैठ सकता था। अब रही, विज्ञान की बात। विज्ञान है क्या? यदि सत्य का अनुसन्धान ही वास्तव मे विज्ञान है, तो वह भी दर्शन की एक विशेष पद्धति होने का नामान्तर होगा। यदि वहाँ भेद जैसी कोई चीज आवश्यक ही है, तो मात्र इतना भेद किया जा सकता है, कि विचार के दो पक्ष होगे—एक अध्यात्म अनुसन्धान, दूसरा भौतिक अनुसन्धान। अन्दर की खोज और बाहर की खोज। पहला दर्शन कहा जाएगा, दूसरा विज्ञान। परन्तु आखिर, धर्म, दर्शन और विज्ञान—तीनो एक दूसरे के पूरक हैं, विघटक नही। इस अर्थ मे वे तीनो एक-दूसरे के पूरक ही है, विघटक नही। इस अर्थ मे वे तीनो एक-दूसरे से सम्बद्ध ही कहे जा सकते है।

सस्कृति का मूल स्वर सर्वोदय—धर्म और दर्शन किंवा आचार और विचार का समन्वय आज ही नही, युग-युगान्तर से अभीष्ट रहा है—भारतीय परम्परा मे। कृष्ण ने जिस शाश्वत तत्त्व को कर्मयोग एव ज्ञानयोग कहा, महावीर ने उसी को अहिंसा तथा अनेकान्त कहा। गाधी ने उसी तत्त्व को एक शब्द मे कह दिया—'सर्वोदय'। द्वैत मे अद्वैत की खोज, निज मे जिनत्व का अनुसन्धान और पर मे स्व की अनुभूति का नाम ही सर्वोदय है। प्राणि-मात्र मे समानता का आधार ही सर्वोदय की जन्मभूमि है। सर्वोदय

आखिर है क्या ? सब का उदय, सब का उत्कर्ष, सब का विकास और सब का कल्याण ही तो सर्वोदय है। सर्वोदय आज का धर्म नही, भारतीय संस्कृति का तो यह मूल स्वर है। भारत के प्राचीन साहित्य मे सर्वोदय के बीज बिखरे पडे हैं—

"सब सुखी रहें। सब स्वस्थ रहे। सब के सब कल्याण भागी बनें। कोई कभी कही दु.खी न हो।"[1]

"सब जीव मुझ को क्षमा करे। मै भी सब को क्षमा करता हूँ। सब के साथ मेरी मित्रता है। किसी पर भी मेरा वैर-भाव नही है।"

विश्वात्मा की भव्य भावना भारतीय साहित्य के पृष्ठो पर आज ही अकित नही हुई है। गाधी जी इस भावना के सृष्टा नही, उपदेष्टा थे। भारतीय वाङ्मय मे ऐसे उल्लेख हैं, जिनमे गाधी जी से बहुत पूर्व ही 'सर्वोदय' शब्द अकित हुआ है। 'सर्वोदय' शब्द का प्रयोग आचार्य समन्तभद्र की वाणी मे हो चुका है।

सर्वोदय का ध्येय बिन्दु.—जैन-परम्परा के महान् दार्शनिक आचाय समन्तभद्र ने भगवान् के धर्म-शासन को 'सर्वोदय' कहा है। तीर्थंकर का धर्म-शासन एक ऐसा शासन है—

"जिसमे सब का उत्कर्ष है, सब का उदय है, सब का विकास है। उसका अन्त कभी नही होगा। वह समस्त अपराधो का अन्तकर है।"[2]

---

१ सर्वे भवन्तु सुखिन. सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित द ख-भाग् भवेत्॥

२ सर्वापदामन्तकर निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिद तवैव।

सर्वोदय मानता है कि सब का उदय कोरा स्वप्न, कोरा आदर्श नही है, वह आदर्श अवश्य है, किन्तु व्यवहार के योग्य है। उसे जीवन मे उतारा जा सकता है। सर्वोदय का आदर्श ऊँचा है। यह ठीक है, परन्तु न तो वह अप्राप्य है और न असाध्य। हाँ, प्रयत्न साध्य अवश्य है। सर्वोदय का आदर्श है, विश्वात्म-वाद और उसकी नीति है, समन्वय। मानव-निर्मित समस्त विषमताओ का वह निराकरण करना चाहता है तथा प्राकृतिक समस्याओ का भी वह बौद्धिक समाधान करना चाहता है। प्रकृति पर विजय वह भौतिक रूप मे नही, आध्यात्मिक रूप मे चाहता है। अत वह विचार की उच्चता के साथ आचार की पवित्रता का भी प्रबल समर्थक है। सर्वोदयी सिद्धान्त मे जीवन एक विज्ञान भी है, एक कला भी। जीव-मात्र के प्रति समादर की भावना, यह सर्वोदय का मुख्य ध्येय है।

प्राणिमात्र के लिए सहानुभूति रूप अमृत जव मानवी जीवन मे प्रवाहित होता है, तव सर्वोदय की भूमि मे से कल्पवृक्ष अकुरित, पल्लवित एव फलित होते है। सर्वोदय राजनीति मे नही, लोकनीति मे विश्वास लेकर उठा है। क्योकि राजनीति मे शासन मुख्य है, लोकनीति मे अनुशासन। सर्वोदय की पावन प्रेरणा है कि शासन से अनुशासन की ओर, सत्ता से स्वतन्त्रता की ओर तथा दमन से आत्म-सयम की ओर वढे चलो। यह अधिकार पर नही, कर्त्तव्य पालन पर वल देता है। हृदय-परिवर्तन, जीवन-शोधन, साधन शुद्धि और प्रेम का अधिकतम विस्तार ही सर्वोदय है।

सुख दु ख का वंटवारा —सव के उदय का, सव के उत्कर्ष का अर्थ यही है कि कोई भी सुख किसी एक व्यक्ति या वर्ग के लिए

न होकर सवके लिए हो। सुख ही नही, मानव को दुःख भी बाँटना होगा। तभी समाज मे समत्व-योग का प्रसार सम्भवित है, जव तक सच्चे अर्थ मे सर्वोदय का समवतार नही माना जा सकता। यदि एक वर्ग दूसरे वर्ग का अथवा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोपण करता है, तो वह न्याय न होगा। एक की समृद्धि दूमरे के शोपण पर खडी नही होनी चाहिए। प्रकाश को अपने साम्राज्य का भव्य प्रासाद अन्धकार की नीव पर खडा करते किसने देखा है? क्या प्रकाश अन्धकार को अपना आधार बना सकता है? यदि नही, तो शोपण के आधार पर सुख कैसे खडा रहेगा? जव तक समाज मे, राष्ट्र मे और व्यक्ति मे भी शोपण-वृत्ति का अस्तित्व किसी भी अश मे है, तो वहाँ सर्वोदय टिक न सकेगा! सर्वोदय मे शोपक, शोपक न रहेगा और शोपित शोपित न रहेगा। सर्व प्रकार के शोपण के विरुद्ध सर्वोदय का एक ही नारा है—"हम शोपक का अन्त नही, शोपण वृत्ति का ही अन्त करना चाहते है। जव समाज मे, राष्ट्र मे और व्यक्ति मे शोपण वृत्ति ही न रहेगी, तव शोपण का अस्तित्व ही न रहेगा।" सुख दुख मे, दुख सुख मे पच जाएगा। तभी व्यक्ति का, समाज का और राष्ट्र का—सभी का उदय होगा।

सुख है, कहाँ? दुख है, कहाँ? वस्तुनिष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ। यदि वस्तुनिष्ठ माने जाएँ तव तो भौतिक साधनो का अधिक से अधिक सग्रह सुख का, और उनका वियोग दुख का कारण माना जाएगा। परन्तु वात ऐसी है नही। समाज मे सम्पन्न भी दुखी देखा गया है, और विपन्न भी कभी सुखी। फिर तो निश्चय ही सुख दुख वस्तुनिष्ठ नही रहे—आत्मनिष्ठ हो गए। मानव की मनोभूमि मे मे तो वे उत्पन्न होते है, और वही विलोप भी। अत

सर्वोदय कहता है—सुख साधनो मे आसक्ति मत होने दो, तब स्वत दु.ख भी सुख हो जाएगा।

सर्वोदय की विराट भावना—सर्वोदय "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के सिद्धान्त को लेकर चला है। समग्र विश्व की आत्माएँ एक समान है। उनमे ऊँच-नीच का भेद कृत्रिम है, स्वाभाविक नही। यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है, यह वैश्य है, यह दास है। यह अन्तर भी समाज-कृत है। यह नर है, यह नारी है, यह भेद भी वास्तविक नही है। शरीर तक ही यह सीमित है, आत्मा मे पहुँचकर तो यह भेद भी नही ठहरता। भेद-अभेद और अनेक मे एकत्व की साधना भी सर्वोदय की एक पद्धति है। जहाँ सब का उदय अभीष्ट है, वहाँ एक का उत्कर्ष अभीष्ट कैसे होगा? जो व्यक्ति अपना हित चाहता है, उसे चाहिए कि वह दूसरो का हित पहले करे। क्योकि पर-हित मे स्व-हित निहित रहता ही है। दूसरो को सुख न देकर स्वय सुखी बनने के प्रयत्न मे मनुष्य का गौरव अक्षुण्ण नही रह सकेगा। एक सच्चे सर्वोदयी की यह भावना होनी चाहिए :—

"सम्पूर्ण ससार का कल्याण हो। प्राणी एक-दूसरे के हित मे सदा निरत रहे। हमारे समग्र दोष नष्ट हो। यहाँ, वहाँ सर्वत्र जितने भी जीव है, वे सुखी रहे।"*

जब सर्वोदय की यह विराट भावना जन-जीवन मे समवतरित होगी तब मानव मन मे मे जन्म पाने वाले ये जाति के बन्धन ये राष्ट्र के बन्धन, ये स्वार्थ के बन्धन और ये मानवी मन के

---

* शिवमस्तु सर्वजगत परहित-निरता भवन्तु भूत-गणा.।
दोषा प्रयान्तु नाश, सर्वत्र सुखी भवतु लोक ॥

समस्त वन्धन स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाएँगे। मनुष्य "महतो महीयान्" वन जाएगा। तभी मनुष्य को विश्वात्मा के दर्शन हो सकेंगे। हम भी जीवित रहे, पर साथ मे दूसरे भी जीवित रहे। इसी विराट भावना को जन-जन के मन मे उतारने का प्रयत्न सर्वोदय कर रहा है। सर्वोदय की सफलता इसी मे है कि मानव, मानव पर विश्वास करना सीखे।

दिव्य विचार का प्रसारः—विचार और विकार दोनो की उत्पत्ति मानव मन है। विकार से पतन और विचार मे उत्थान होता है। दूसरो के प्रति विद्वेष की भावना रखना, मानव मन का विकार है। सर्वोदय विकार को विचार मे वदलने की एक कला है। जन जीवन मे दिव्य विचारो का प्रसार करना भी सर्वोदय का एक अपना उदात्त विचार ही है। समाज के उत्थान के लिए, व्यक्ति के उत्कर्ष के लिए केवल दिव्य विचारो का प्रसार करके ही सर्वोदय विरत नही हो जाता, वल्कि वह आगे वढकर कहता है कि विचार भी जीवन मे किसी प्रकार का परिवर्तन न ला सकेंगे। भारतीय सस्कृति की एक मात्र यही विशेषता है कि आदर्श को केवल आदर्श मान कर ही वैठ नही जाती, वल्कि उसे जीवन मे उतारने की पद्धति भी वताती है।

राम की मर्यादा, कृष्ण का प्रेम-योग, महावीर की अहिसा एव अनेकान्त, वुद्ध का वैराग्य और गाधी का सत्याग्रह—ये सभी आदर्श है। निश्चित रूप मे आदर्श है। परन्तु वे जन-जीवन मे भी उतरे हैं। उतर सकते है। राम की मर्यादा केवल राम के साथ ही नही मरी। आज भी वह भारतीय जनो के जीवन को प्रेरणा देती है। महावीर की अहिसा और अनेकान्त केवल महावीर तक ही नही रहे, आज भी वे उतने ही उपयोगी है।

दिव्य विचार कभी किसी एक व्यक्ति मे आबद्ध नही रह सके है। यह हो सकता है कि कभी कोई विचार किसी व्यक्ति-विशेष के आचरण से दिव्य बन गया हो, पर वह सम्पूर्ण समाज की सपत्ति है। विचार जब आचरण मे आता है, तभी उसमे दिव्यता प्रस्फुटित होती है।

अहिंसा और अनेकान्त —श्रमण-सस्कृति जिस अहिसा और अनेकान्त की उदात्त भावना का युग-युग से प्रचार एव प्रसार करती आ रही है, सर्वोदय मे भी वही तत्त्व सन्निहित है। विचार मे अनेकान्त, व्यवहार मे अहिंसा और समाज मे अपरिग्रह—इन सबके सुन्दर योग का नाम ही तो सर्वोदय विचार-धारा है।

अहिंसा नागरिक जीवन का और लोक-नीति का एक आधार-भूत सिद्धान्त है। अहिसा प्रेम के विस्तार मे प्रकट होती है। दूसरे का सुख हमारा सुख है, दूसरे का दु ख हमारा दु ख है। इस सह-जीवन की विराट भावना मे से ही अहिंसा प्रस्फुटित होती है। जो तेरे लिए काँटा बोता है, उसके लिए तू फूल ही लगा। तुझे फूल ही मिलेगे, उसे काँटे। परन्तु उसके लिए तू अपने मन मे काँटे की भावना मत रख। तेरे फूलो की फसल अगर उसके काँटो से बडी होगी, तो निश्चय ही इसमे तेरी सफलता है। फिर तो तेरे आस-पास जो काँटे बिखर गए हैं, उनमे स भी गुलाब ही महकेगे। यही तो अहिंसा तत्त्व का दर्शन है। दूसरे के जीवन मे सहायता पहुँचाना अहिसा है और दूसरे के जीवन मे बाधा पहुँचाना हिसा है। अहिसा अमृत और हिसा विष है। जीवन को सुखी और शान्त बनाने के लिए अहिंसा को जीवन मे उतरने दो। साध्य शुद्ध हो, यह तो ठीक ही है, परन्तु साधन शुद्धि पर भी पूरा ध्यान देना चाहिए। साधन शुद्ध होगा, तो साध्य अपने आप शुद्ध होगा ही।

अनेकान्त का अर्थ है—विचार सहिष्णुता। पर-मत के प्रति जब तक सहिष्णुता का भाव जागृत नही होगा, तब तक सच्चे अर्थ मे जीवन का उच्च ध्येय प्राप्त न हो सकेगा। सामाजिक जीवन मे विरोध हो जाना सहज है, परन्तु वह विरोध विद्वेष न बन जाए, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। विरोध मे समन्वय खोजना ही तो अनेकान्त है। समन्वयात्मक जीवन की स्थापना के लिए जीवन-विरोधो का परिहार हमे करना पडता है। व्यक्तिगत विरोध तथा समाजगत विरोध—इन सारे विरोधो का परिहार करने की जो पद्धति है, उसी को अनेकान्त अथवा समन्वय कहा जाता है। सर्वोदय सभी सुविचारो का सुन्दर समन्वय करता रहा है। सत्य क्या है? वह कहाँ है? आदि प्रश्नो का सुन्दर एव समुचित समाधान समन्वय पद्धति है। यह समन्वय पद्धति क्या है? जहाँ भी, जिस किसी के पास भी सत्य हो, ग्रहण कर लो। सत्य यदि अपना है, तो भी ठीक और यदि वह पर का है, तो भी ठीक। आठवी शताब्दी के महान् विद्वान् समन्वय तत्त्वदर्शी आचार्य हरिभद्र ने कहा था—

"सत्य कही पर भी हो, उसे आदर से ग्रहण कर लो। यदि वह कपिल के पास हो, तब भी सुन्दर है, और यदि वह बुद्ध के पास है, तब भी ठीक है।"* जिसका वचन युक्ति-युक्त हो, युक्ति-सगत हो, उसे ग्रहण करना ही चाहिए।

सर्वोदय भी हमे इसी भावना पर पहुँचा देता है। सर्वोदय मे धर्म, दर्शन विज्ञान, नीति, सस्कृति और आचार—सबका समन्वय मिल जाता है। अहिसा और अनेकान्त तथा अपरिग्रह तो उसके मूलभूत सिद्धान्त ही हैं। सर्वोदय मे विचारो का आग्रह

* युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यं परिग्रह ।

नही, वहाँ तो सभी विचारो का समादर है । गाधी का सर्वोदय, गाँधी का अपना नही, उसमे समग्र भारतीय तत्त्व दर्शन, भारतीय विचार चिन्तन और भारतीय सस्कृति का सार सगृहीत है । समाज और राष्ट्र मे सुख, शान्ति और सन्तोप का फैलाव करना ही एकमात्र इस विचार पद्धति का मूल ध्येय है, जो अभिनव होकर भी अपने आप मे पुरातन है, चिरन्तन है। भारतीय तत्त्व-दर्शन का यह एक सुवर्ण पृष्ठ है, जो अपने आप मे सुन्दर, सरस और सुमधुर है ।

३८

ध्यान-योग

किसी भी विषय पर अथवा किसी भी एक वस्तु पर निरन्तर बहने वाली मन की विचारधारा को केन्द्रित करना 'ध्यान' कहा जाता है। 'ध्यान' का शाब्दिक अर्थ है—'चिन्तन करना, मनन करना और विचार करना।' ध्यान की साधना मे चित्त परिशुद्ध, निर्मल और पवित्र बनता है। विशुद्ध चित्त ससार से विमुख और मोक्ष के सम्मुख हो जाता है। ध्यान की साधना से मन के समस्त विकारो का उपशम अथवा क्षय हो जाता है। इसी आधार पर ध्यान को 'योग' कहा गया है। ध्यान-योग का अर्थ है—'ध्यान की साधना से अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेना।'

पातञ्जल योग-दर्शन के अनुसार ध्यान की परिभाषा है—"देश-विशेष मे ध्येय वस्तु के ज्ञान की एकतानता।" जिस देश-विशेष में चित्त को स्थापन किया है, उसमे ध्येय वस्तु का

ज्ञान, अन्य किसी वस्तु के ज्ञान से अभिभूत न होकर, जब एकाकार रूप से प्रवाहित होता है, तब उसे 'ध्यान' कहते है। ध्यान मे कर्मो का क्षय बडी शीघ्रता से होता है। पाप-राशि को भस्म करने के लिए ध्यान एक जाज्वल्यमान अग्नि के समान है। ध्यान की साधना से आध्यात्मिक विकास मे अपूर्व प्रगति होती है। यही कारण है कि प्राचीन-काल से ही भारत के ऋषि-मुनियो ने अन्य योगो की अपेक्षा ध्यान-योग पर विशेष वल दिया है। ध्यान-योग की साधना से मन शान्त एव प्रसन्न रहता है।

जैन-शास्त्र मे, जैन-आगम मे और जैन योग-विद्या मे ध्यान-योग का वडे विस्तार से वर्णन किया गया है। परन्तु मुख्य रूप मे ध्यान के चार भेद है—

१ आर्त-ध्यान,
२ रौद्र-ध्यान,
३ धर्म-ध्यान,
४. शुक्ल-ध्यान।

प्रथम के दो ध्यान, अर्थात् आर्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान ससार की अभिवृद्धि के कारण होने से 'दुर्ध्यान' कहे जाते है। इन दोनो ध्यानो को 'अशुभ-ध्यान' भी कहते हैं। योग की साधना करने वालो के लिए ये दोनो ध्यान सर्वथा त्याज्य है, क्योकि इनसे चित्त मे विक्षेप पैदा होता है। अन्त के दोनो ध्यान, अर्थात् धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान 'सुध्यान' कहे जाते है। इनको 'शुभ-ध्यान' भी कहते है। ये दोनो मोक्ष के कारण है। योग की साधना करने वालो के लिए इन दोनो ध्यानो की परम आवश्यकता है। आर्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान मोक्ष की साधना के अङ्ग-भूत नही हैं,

तथापि साधक के लिए इन दोनो की अशुभता से बचने के लिए इन दोनो का स्वरूप जानना परम आवश्यक है। मै यहाँ पर सक्षेप मे चारो ध्यानो का स्वरूप दे रहा हूँ और उनके भेद भी सक्षेप मे दे रहा है—

आर्त-ध्यान—'ऋति' नाम दु ख या पीडा का है, उसमे से जो उत्पन्न हो, वह 'आर्त कहलाता है। तात्पर्य यह कि जिसमे दुःख का चिन्तन हो, उसे 'आर्त-ध्यान' कहते है। प्राणी मे दु ख की उत्पत्ति के जितने भी कारण हैं, उनको सक्षेप से चार विभागो मे विभक्त किया गया है। यथा—

१ अनिष्ट-सयोग—जब कभी अनिष्ट वस्तु का सयोग हो, अर्थात्—अग्नि, सर्प, सिहादि का मेल या प्रबल शत्रु का समागम अथवा प्राणनाशक अन्य कोई प्रसग प्राप्त हो, तो उससे उत्पन्न होने वाले दु ख की स्मृति से व्याकुल हुआ पुरुप, उसके वियोग के लिए, अर्थात् वे भय देने वाले पदार्थ शीघ्र से शीघ्र कब और कैसे दूर हो—इसके लिए, जो सतत चिन्तन करता है, उसकी इस चिन्तन परम्परा को ही 'अनिष्ट सयोग आर्तध्यान' कहते है।

२ इष्ट-वियोग—इसी प्रकार धन, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, मित्र और अधिकार आदि इष्ट-पदार्थो के वियोग से जो दुर्ध्यान होता है तथा उसको फिर से प्राप्त करने के लिए जो सतत चिन्तन होता है, उसका नाम 'इष्ट वियोग—आर्तध्यान' है।

३. प्रतिकूल-वेदना—अनेक प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक व्याधियो से संत्रास को प्राप्त हुआ जीव उनके दूर करने के लिए जो रात-दिन चिन्तन करता है, वही 'प्रतिकूल-वेदना' या 'रोग चिन्ता' का तीसरा नाम आर्तध्यान है।

४ निदान—विषय-भोगों की बढ़ी हुई लालसा के कारण प्राप्त न होने वाली वस्तुओं को येन-केन-उपायेन प्राप्त करने की जो दौड़-धूप है, अर्थात् उसको उपलब्ध करने की जो तीव्र अभिलाषा है, उसे 'निदान-आर्तध्यान' कहते हैं।

रौद्र-ध्यान—दूसरा रौद्र-ध्यान है। क्रूर अथवा कठोर भाव वाले प्राणी को 'रुद्र' कहते हैं और उसका ध्यान 'रौद्र-ध्यान' कहलाता है। क्रूरता और कठोरता की उत्पत्ति का मूल कारण हिंसा (हत्या), असत्य (झूठ), स्तेय (चोरी), और विषय-रक्षण (आसक्ति) की प्रवृत्ति है। इसी जघन्य प्रवृत्ति से क्रूरता अथवा कठोरता का उद्गम होता है, इसीलिए आर्त-ध्यान की भाँति रौद्रध्यान भी चार प्रकार का है। यथा—

१. हिंसानुबन्धी—जिस चिन्तन के पीछे हिंसा की भावना जागृत रहती है, वह 'हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान' कहलाता है। रौद्र-ध्यान के इस प्रथम भेद में व्यवहृत प्राणी का आशय अत्यन्त क्रूर होता है। किसी जीव को पीड़ा होते, दुःख होते अथवा प्राणनाश होते देखकर वह आनन्द मनाता है। उसमें क्रोध का विष अधिक होता है। उसका स्वभाव करुणा-रहित और बुद्धि पापमयी होती है। इसी प्रकार सावद्य कार्यों में कुशलता, पापोपदेश में अभिरुचि, दूसरे के प्राण लेने में आनन्द और क्रूरता, निर्दयी जीवों की संगति आदि विचारों का समावेश इसी विभाग में समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त हिंसा के साधनों को एकत्र करना, हिंसक प्राणियों का पोषण करना और हृदय में अनुकम्पा का बहिष्कार करना तथा दयालु एवं सद्गुणी पुरुषों से द्वेष रखना— ये सभी दूषण इस प्रथम भेद के अन्तर्गत आते हैं। इस भेद का उद्गम-स्थान 'क्रोध' है, जो कि तीव्र कषाय कहा जाता है।

क्रोध के प्रभाव से शरीर की नस-नस मे रुधिर-सचार तीव्र गति से होने लगता है और इसकी उत्पत्ति भी अति अशुभ लेश्या से है। अत इन समस्त वातो का विचार करके योग-मार्ग मे प्रवृत्त होने वाले साधक को सर्वथा दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

२ **मृषानुवन्धी**—जिस चिन्तन की आधार-शिला केवल मृषावाद हो, वह 'मृषानुवन्धी रौद्रध्यान' है। इस दूसरे भेद मे—असत्य-भाषण, पर-वचना, पर-प्रतारणा, सत्य पर अनास्था और विश्वासघात आदि दोषो का समावेश होता है।

३ **स्तेयानुवन्धी**—जिस चिन्तन मे केवल स्तेय-भाव ही प्रतिविम्वित हो, उसे 'स्तेयानुवन्धी रौद्रध्यान' कहते हैं। दूसरे की वस्तु को उठा ले जाने की चतुरता, साथ मे रहने वालो को चोरी के लिए उकसाना और दूसरे का धन चुरा लेने का निरन्तर विचार, आदि सभी अपकर्म इस भेद के अन्तर्गत आते है।

४ **विषय सरक्षणानुवन्धी**—जिस चिन्तन मे प्राप्त-विषयो के सरक्षण की भावना गर्भित हो, वह 'विषय-सरक्षणानुवन्धी रौद्रध्यान' कहलाता है। सचित धन की रक्षा किस प्रकार की जाए, उसको चोर-डाकुओ से सुरक्षित रखने का अच्छा उपाय क्या होना चाहिए और ऐसी कौन-सी योजना है कि जिससे मूल-पूँजी तो वरावर वनी रहे, लाभ अधिक हो, तथा बडे-बडे महल वनाने और उनमे धन रखने के लिए गुप्त स्थानो का निर्माण करने एव चोर-डाकुओ के भय से पहरेदार रखने आदि की विचारणा मे रात-दिन सलग्न रहना आदि अनेक प्रकार के प्रपच रौद्रध्यान के इस चतुर्थ भेद मे ही समाविष्ट होते है।

धर्म-ध्यान—जिस चिन्तन मे केवल धर्म को ही प्रधान स्थान प्राप्त हो, उसे 'धर्म ध्यान' कहते है। आज्ञा, अपाय, विपाक और

सस्थान आदि के सतत चिन्तन मे मनोवृत्ति को एकाग्र करना ही 'धर्म-ध्यान' है। धर्म-तत्त्व के स्वरूप की विचारणा अधिकतया आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थान लोकस्वरूप—इन चारो पर निर्भर होने से धर्म-ध्यान के चार भेदो का परिचय इस प्रकार है—

१ **आज्ञा-विचय**—'आज्ञा' का अर्थ है—परम आप्त, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग प्रभु का आदेश। और 'विचय' का अर्थ है—विचार। अतः वीतराग प्रभु की आज्ञानुसार वस्तु-तत्त्व का चिन्तन करना अथवा उक्त रीति से वस्तु-तत्त्व चिन्तन मे मनोयोग देना—'आज्ञा-विचय-धर्मध्यान है'।

२ **अपाय विचय**—'अपाय' का नाम है—दु ख। जिसके कारण जीव के राग द्वेष और विपय-कषाय है। इन सब के चिन्तन की भूमि 'अपाय-विचय-धर्मध्यान' है। कर्म सम्बन्ध के विच्छेद का और आत्म-समाधि की प्राप्ति का उपाय, चिन्तन करना—इस ध्यान का मुख्य प्रयोजन है।

३ **विपाक-विचय**—इस भेद मे कर्म-विपाक-फल का चिन्तन किया जाता है। ज्ञानावरणादि अष्ट-विध कर्मो के विपाकोदय को, अर्थात् कर्मजन्य फल को यह जीव किस प्रकार से भोगता है—आदि बातो के विचार की भूमि का नाम—'विपाक-विचय-धर्मध्यान' है, और गुण-स्थानो के आरोह-क्रम से इन कर्मो के सम्बन्ध का विच्छेद किस प्रकार से किया जाता है, इस विषय का चिन्तन भी इस तीसरे विभाग मे आ जाता है।

४ **सस्थान-विचय**—धर्म-ध्यान के चौथे भेद का नाम 'सस्थान-विचय' है। 'सस्थान' का अर्थ है—लोक। इस भेद के अन्तर्गत लोक के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

शुक्ल-ध्यान—शुक्ल-ध्यान मे चित्तवृत्ति की पूर्ण एकता और निरोध सम्पन्न होता है। केवल आत्म-सन्मुख निष्कषाय (उपशान्त) और क्षयभाव-युक्त चित्त 'शुक्ल' कहलाता है। ध्यान-शतक की टीका मे आचार्य हरिभद्र सूरि शुक्ल-ध्यान का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ—शोक-निवर्तक एकाग्र चित्त-निरोध करते है, अर्थात् जिससे आत्मगत शोक की सर्वथा निवृत्ति हो जाए—ऐसा एकाग्र-चित्त निरोध—'शुक्ल-ध्यान' कहलाता है। अन्य ध्यानो की भाँति इसके भी निम्नलिखित चार भेद है—

१ पृथक्त्व-वितर्क-सविचार—जब कोई साधक श्रुतज्ञान के आधार पर जीवाजीवादि पदार्थों का द्रव्य-पर्याय आदि विविध दृष्टियो से भेद-प्रधान चिन्तन करता है और उसके इस चिन्तन मे एक अर्थ-पदार्थ से दूसरे अर्थ-पदार्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर एव एक योग से दूसरे योग पर सचार होता रहता है, तब इस श्रुत-ज्ञानावलम्बी भेद-प्रधान सविचार-चिन्तन को 'पृथक्त्व-वितर्क सविचार शुक्ल-ध्यान' कहते है।

२ एकत्व-वितर्क-अविचार—परन्तु दूसरे शुक्ल-ध्यान मे इससे विपरीत है। इसका अनुसरण करने वाला साधक श्रुतज्ञान के आधार पर पदार्थों के विविध स्वरूपो का केवल अभेद-प्रधान दृष्टि मे ही चिन्तन करता है। उसके इस चिन्तन मे एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर और एक योग से दूसरे योग पर सचार नही होता। किन्तु ध्याता किसी एक ही पर्याय-रूप अर्थ को लेकर मन, वचन और काय के किसी एक ही योग पर स्थिर रहकर एकत्व-अभेद-प्रधान चिन्तन करता है। यह चिन्तन 'एकत्व-वितर्क-अविचार शुक्ल-ध्यान' कहलाता है।

३. सूक्ष्म-क्रिया अप्रतिपाती – तीसरा शुक्ल-ध्यान तेरहवे गुण-स्थान—'सयोग-केवली' मे प्राप्त होता है। जब केवली भगवान् आयु के अन्त समय मे योग-निरोध के क्रम का आरम्भ करते हुए सूक्ष्म-काय-योग को अवलम्बित करके बाकी के योगो का निरोध करते है, तब उनमे श्वास-प्रश्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही बाकी रह जाती है, जिसमे से पतन की सभावना को कोई अव-काश नही होता। इन लक्षणो के आधार पर शुक्ल-ध्यान को 'सूक्ष्म क्रिया-अप्रतिपाती' कहते है

४ समुच्छिन्न क्रिया-निवृत्ति—यह ध्यान चौदहवें गुणस्थान—'अयोग-केवली' मे प्राप्त होता है, जो कि अन्तिम गुणस्थान है। जिस समय श्वास-प्रश्वास प्रभृति सूक्ष्म क्रियाओ का भी निरोध हो जाता है और आत्म-प्रदेशो मे सर्व प्रकार का कम्पन-व्यापार बन्द हो जाता है, तब वह 'समुच्छिन्न क्रिया-निवृत्ति' ध्यान कहलाता है। इस अवस्था मे साधक की आत्मा सर्व प्रकार के स्थूल एव सूक्ष्म, मानसिक, वाचिक और शारीरिक व्यापारो से सर्वथा पृथक् हो जाती है। इसमे उसके नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय—ये चार अघाती-कर्म भी नष्ट हो जाते है और वह सर्वथा निर्मल, शान्त, निष्कलक, निरामय, निष्क्रिय और निर्विकल्प-स्वरूप पूर्ण सुख-स्वरूप मोक्ष पद को प्राप्त हो जाता है।

३९

भावना-योग

मनुष्य के जीवन का उत्थान और पतन उसकी भावना के अनुरूप होता है। मनुष्य के चित्त मे कभी शुभ भावना और कभी अशुभ भावना का चक्र सदा ही चलता रहता है। भावना मे अपार बल और असीमित शक्ति होती है। ससार का वह कौन-सा काम है, जो भावना के बल से पूरा न किया जा सकता हो? शास्त्र मे भावना को 'भव-नाशिनी' कहा गया है। अशुभ भावना के कारण ही प्रसन्नचन्द्र मुनि ने नरक जाने योग्य कर्मों का सचय कर लिया था। शुद्ध भावना के कारण मरुदेवी माता ने केवल-ज्ञान पा लिया था। 'भोग-भावना' और 'त्याग-भावना' के बल से पुण्डरीक और कुण्डरीक दोनो सहोदर भ्राता होने पर भी एक अपने जीवन का उत्थान कर लेता है, और दूसरा अपने जीवन का पतन कर लेता है। अशुभ-योग को छोडकर शुभ-योग मे प्रवेश करने को ही वस्तुत. 'भावना योग' कहते है। भावना के चार प्रकार है—''मैत्री, मुदिता, करुणा और मध्यस्था।''

मैत्री-भावना

ससार मे जितने भी जीव है, उन सभी को अपना मित्र समझना—'मैत्री-भावना' है। जैसे हम अपने मित्र के साथ प्रेम का व्यवहार करते है, उसका आदर और सत्कार करते है, वैसे ही ससार के प्रत्येक जीव के साथ प्रेम का व्यवहार करना और सब का आदर एव सत्कार करना—यही 'मैत्री-भावना' है। मैत्री-भावना का स्वरूप-वर्णन करते हुए एक आचार्य ने लिखा है।

यथा—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः,
सर्वे सन्तु निरामया·।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मा कश्चित् दु ख-भाग् भवेत् ॥"

"ससार के समस्त जीव सुखी रहे। सब स्वस्थ एव नीरोग रहकर जीवन का आनन्द ले। सब का कल्याण हो, सब का मगल हो। किसी भी जीव को कभी दु ख एव क्लेश न रहे।" इस प्रकार की शुभ विचार-धारा को 'मैत्री-भावना' कहा जाता है। मैत्री-भावना अत्यन्त पवित्र भावना है।

यथा—

"मैत्र्या भूमिरतीव रम्या,
भव्य-जनै रेव गम्या।
निन्दन्त्यप कुर्वन्ति ये वा,
घ्नन्ति द्वेषाद् यष्टिभि रेव।
मत्वा तेषां कर्म-प्रदोषम्,
तैरपि मैत्री न छेद्या ॥"

"अपने प्रेमी से तो सभी प्रेम करते है। परन्तु अपने विरोधी से भी प्रेम करना—मैत्री है। मैत्री-भावना की भूमि अत्यन्त सुन्दर होती है। भव्य जन ही उस पर पहुँच सकता है। दूसरो से द्वेष रखने वाला उस पवित्र भूमि पर नही जा सकता। परम विशुद्ध मैत्री-भावना वह है, जहाँ पहुँच कर मनुष्य के मन मे न किसी के प्रति द्वेष रहता है, और न किसी के प्रति राग रहता है। भले ही निन्दा हो, अपमान हो, भले ही कोई मारे पीटे, परन्तु चित्त मे उसके प्रति जरा भी द्वेष न आने पाए। इस प्रकार के प्रसग आने पर विचार करे कि इस विचारे का दोष भी क्या है? यह तो सब उसके कर्मो का ही दोष है। द्वेष और विरोध करने वाले के प्रति भी कभी द्वेष एव विरोध की भावना न आना ही सच्ची मैत्री-भावना है।

मुदिता भावना :

गुणी-जनो के प्रति आदर-बुद्धि का परिचय देने को 'मुदिता' अथवा 'प्रमोद-भावना' कहते है। संसार मे ऐसा कोई प्राणी नही है, जिसमे कोई गुण न हो। गुण एव दोष किस मे नही है? परन्तु साधक की दृष्टि दोष पर न जाकर गुण पर जानी चाहिए। ज्ञानी से ज्ञान लो, योगी से योग लो, तपस्वी से तप लो, ब्रह्मचारी से ब्रह्मचर्य लो और सन्तोषी से सन्तोष लो। जहाँ पर और जिसमे जो गुण मिले, उसे ग्रहण कर लेना ही मुदिता' अथवा 'प्रमोद-भावना' है।

यथा—

"सद्गुण-पाने सक्त मे मन'।
सेवा-धर्म-रता गत स्वार्था
अभ्युदय [illegible]र्षाणा।

धन्यास्तेऽपि समाज-सेवका,
न्याय्य पथे विहरन्त ॥"

"मेरा मन सद्गुणो को ग्रहण करने के लिए सदा तैयार रहे। जो सेवा मे सलग्न है, जो स्वार्थ-भावना को छोड चुके है, और जो दूसरो का कल्याण करते है, वे समाज सेवक धन्य हैं। न्याय-मार्ग पर चलने वाले लोगो का मै आदर करता हूँ।"

यथा—

"सत्यवादिनो ब्रह्मचारिण,
प्रकृत्या भद्रा सरला।
धन्यास्ते गृहिणोऽपि गुणाढ्या
परोपकारे तरला ॥"

"जो सत्य के प्रेमी है, जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करते हैं, जो स्वभाव से सरल एव निष्पाप है, जो पर-उपकार करने मे सदा तत्पर है, वे भले ही घर मे रहने वाले गृहस्थ ही क्यो न हो ? वे भी मेरे आदर के पात्र है, उनके गुणो का मै सत्कार करता हूँ।"

करुणा भावना

ससार मे सभी सुखी नही है। ससार में सुखी जीवो की अपेक्षा दुखी जीव ही अधिक है। अनाथ और असहाय-जनो के प्रति जो मृदु-भावना होती है, उसे 'करुणा-भावना' कहा गया है। कोई रोग से पीडित है, कोई अन्धा है, कोई बधिर है, कोई पगु है और कोई अगहीन है। इन सब के प्रति मन मे जो अनुकम्पा भाव आता है, उसी को 'करुणा-भावना' कहा जाता है। अनुकम्पा, करुणा और दया—यह आत्मा का सब

से बडा गुण है । दया-हीन जीवन भी क्या जीवन है ? यथाशक्ति दुःखी जनो की सेवा करना, महान् धर्म है ।

यथा—

> "जन्मान्धा बधिरा मूका वा,
> सीदन्त्यशन—विहीना ।
> अन्ध-बधिर-शालो सस्थाप्य,
> रक्ष्या एते दीना ॥"

"अन्धे देख नही सकते, बधिर सुन नही सकते और मूक बोल नही सकते—ऐसी स्थिति मे आपका यह कर्त्तव्य है कि ऐसे असहाय मनुष्यो की सहायता करो। उन्हे सुखी बनाने का प्रयत्न करो । बहुतो के पास पहनने को वस्त्र नही है, खाने को भोजन नही है और रहने को मकान नही है—इस दशा मे आपका यह कर्त्तव्य है कि उनको अशन, वसन और भवन की सुविधा प्रदान करो । जो पढने की योग्यता रखते हैं, पर बिना धन के कैसे पढें ? उनकी सहायता करना, आपका धर्म है । दीन, हीन और अपग की सेवा करना परम-धर्म है । आपका पडोसी भूखा मरे और आप मौज करते फिरे । यह आपका धर्म नही । दु खी को सुखी बनाने का प्रयत्न करना ही वस्तुतः करुणा है ।"

मध्यस्थ-भावना

ससार मे सभी धर्मशील नही हो सकते । ससार मे पापात्माओ की भी कमी नही है । क्रूर, दया-हीन और धर्म-विहीन मनुष्यो को कितना ही उपदेश दिया जाए, परन्तु वे अपने क्रूर कर्मो का परित्याग नही कर पाते । इस प्रकार के जीवो के प्रति भी मेरे मन मे कभी द्वेष एव विरोध

पैदा न हो—यह 'मध्यस्थ-भावना' है। अनुकूलता और प्रतिकूलता मे, तथा सुख और दुःख मे सम-भाव रखना भी 'मध्यस्थ-भावना' है। क्रोधी के क्रोध पर क्रोध न आना, द्वेषी के द्वेष पर द्वेष न आना और क्रूर कर्मी के क्रूर-कर्म पर क्रूर-भावना का न आना भी 'मध्यस्थ-भावना' है। मध्यस्थ-भावना का अधिकारी वही हो सकता है, जो विरोध मे भी विनोद का आनन्द ले सके।

यथा—

"पुद्गल-मात्र परिणति-शील,
द्रव्य भवति रोच्यम्।
नातो द्वेष कार्य्यं कदापि,
नापि मनसा शोच्यम्॥"

"पुद्गल मात्र परिणमन-शील है। वह कभी शुभ हो जाता है और कभी अशुभ हो जाता है। अत उस पर न कभी द्वेष करना चाहिए, और न कभी राग ही करना चाहिए। इसी को 'मध्यस्थ-भावना' कहते है।"

यथा—

"पुरुषा अपि परिवर्तन-शीला.,
नैक-स्वभावा सन्ति।
धर्मिणोऽपि भवन्त्यधर्मिण,
ते धर्मिणो भवन्ति॥"

"पुद्गल की तरह जीव भी, आत्मा भी परिवर्तनशील है। उनके परिणाम बदलते रहते है। जो धर्मी हैं, वे अधर्मी बन जाते है, और अधर्मी फिर धर्मी बन जाते हैं। राजा प्रदेशी कितना क्रूर था किन्तु अन्त मे कितना मृदु हो गया था। जमालि कितना श्रद्धाशील एव दृढ-धर्मी था, परन्तु अन्त मे कितना

मिथ्यावादी वन गया था। जड और चेतन की परिणति को देखकर, किसी पर भी राग और द्वेष नही रखना चाहिए।" इसी को 'मध्यस्थ-दृष्टि' कहते है।

मैत्री-भावना से द्वेष को जीता जा सकता है। मुदिता-भावना से गुणो मे आदर होता है। करुणा-भावना से विचार भद्र वन जाते है। मध्यस्थ-भावना से विरोध मे भी शान्त रहने का अभ्यास किया जा सकता है।

यह 'भावना-योग' जीवन-विकास का एक मुख्य साधन है। मनुष्य अपने विचारो पर सयम रखकर अपना हित साध सकता है। भावना-योग की साधना तव तक चलती रहनी चाहिए, जव तक साधक को सिद्धि न मिल जाए। भावना-योग की साधना प्रतिदिन होनी चाहिए। भावना-योग से चित्त शान्त, प्रसन्न एव विशुद्ध हो जाता है।

४०

जैन-दर्शन में योग-विचार

भारत के समस्त धर्मो मे तथा भारत के समस्त दर्शनो मे किसी न किसी रूप मे योग-साधना का उल्लेख मिल ही जाता है। 'योग' शब्द आज से ही नही, बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। योग एक सम्प्रदाय भी था, पर आज तो उसका नाम ही शेष रह गया है। साख्य-सम्प्रदाय की तरह योग-सम्प्रदाय भी आज पोथी के पन्नो पर रह गया है। भले ही आज योग-सम्प्रदाय न रहा हो, परन्तु योग के सिद्धान्त तो आज भी प्रचलित है।

यहाँ पर हम केवल जैन-दृष्टि से योग का रहस्य और उसका वास्तविक अर्थ तथा उसकी परम्परा सक्षेप मे बतलाने का प्रयत्न करेंगे। विभिन्न युग के जैन आचार्यो ने अपने-अपने समय मे योग की क्या व्याख्या की है और योग का क्या स्वरूप बतलाया है, यह जानना परम आवश्यक है। आचार्य हरिभद्र

सूरि ने योग पर अनेक ग्रन्थो की रचना की है। जैसे—'योग-बिन्दु, योग-दृष्टि समुच्चय और योग-शतक।' इसके बाद आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने 'योग-शास्त्र' लिखा। उपाध्याय यशोविजय ने भी 'अध्यात्मोपनिषद्' आदि ग्रन्थ योग विषय पर लिखे है। दिगम्बर परम्परा मे 'योग-प्रदीप' ग्रन्थ की रचना, जिसका नाम 'ज्ञानार्णव' भी है—आचार्य शुभचन्द्र ने की है।

'योग' शब्द 'युज' धातु से बना है। सस्कृत मे 'युज्' धातु दो है। एक का अर्थ है—जोडना। दूसरे का अर्थ है—समाधि। इनमे से जोडने के अर्थ वाले 'युज्' धातु को जैन आचार्यों ने प्रस्तुत योग अर्थ मे स्वीकार किया है। आचार्य हरिभद्र ने अपने 'योग-विंशिका' ग्रन्थ मे 'योग' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—**'मोक्खेण जोयणाओ जोगो'**—अर्थात् जिन साधनो से आत्मा की विशुद्धि और उसका मोक्ष के साथ योग होता है, उन सब साधनो को 'योग' कहा है। उपाध्याय यशोविजय जी ने भी अपने 'द्वात्रिंशिका' ग्रन्थ मे योग की वही व्याख्या की है, जो आचार्य हरिभद्र ने की थी। उपाध्याय जी योग कि परिभाषा इन शब्दो मे करते है—**'मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते।'** यशोविजय जी ने कही-कही पर अपने ग्रन्थो मे 'पञ्च-समिति' और 'त्रिगुप्ति' को उत्तम योग कहा है। इनके मत मे योग का अर्थ है—'धर्म-व्यापार।' मन, वचन और काय को सयत रखने वाला धर्म-व्यापार ही 'योग' है। क्योकि यही आत्मा को उसके साध्य—मोक्ष के साथ जोडता है।

जैन-दर्शन मे 'त्रिविध योग' कहा गया है। श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया—इसको 'त्रिविध योग' कहते है। क्योकि शुद्ध श्रद्धा, शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रिया की साधना से ही आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति

होती है। इस त्रिविध योग को ही 'रत्न-त्रयी' और 'मोक्ष-मार्ग' भी कहा गया है।

आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थो मे 'पञ्चविध योग' भी कहा है—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसक्षय। इस पञ्चविध योग का विस्तार-पूर्वक वर्णन आचार्य हरिभद्र ने अपने 'योग बिन्दु' ग्रन्थ मे किया है। इसी आचार्य ने अपने 'योग दृष्टि समुच्चय' ग्रन्थ मे 'अष्ट-विध' योग भी कहा है—जिसको 'अष्ट-योग दृष्टि' भी कहते है—'मित्रा, तारा, बला, दीप्ता, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा।' पातञ्जल 'योग-सूत्र' मे महर्षि पतञ्जलि ने योग के आठ अगो का वर्णन किया है। आचार्य हरिभद्र ने उन आठ अगो को 'अष्ट-दृष्टि' कहा है। जैन-योग की यह नयी व्याख्या और नया मोड था, जिसका विशद वर्णन आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थो मे आज भी उपलब्ध है। उपाध्याय यशोविजय जी ने अपने एक ग्रन्थ मे एक भिन्न प्रकार के त्रिविध योग का उल्लेख किया है—इच्छा, शास्त्र और सामर्थ्य। परन्तु वस्तुत यह कल्पना भी आचार्य हरिभद्र की है, उसी का उल्लेख उपाध्याय जी ने अपने ग्रन्थ मे कर दिया है। आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ज्ञानार्णव ग्रन्थ मे भी योग का विस्तार से वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त 'समाधि-शतक, ध्यान-शतक, ध्यान-विचार, ध्यान-दीपिका और अध्यात्म-कल्पद्रुम' आदि ग्रन्थो मे योग का विशेष वर्णन है। परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि जैन आचार्य योग की व्याख्या करते हुए 'हठ योग' का निषेध करते है। किसी भी जैन आचार्य ने 'हठ-योग' का समर्थन नही किया। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने तो अपने योग-शास्त्र मे हठ-योग का जोरदार शब्दो मे निषेध किया है—

"तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्य प्राणायामैं कदर्थितम् ।
प्राणास्यायमने पीडा तस्या स्याच्चित्त-विप्लवः ॥"

"प्राणायाम हठ-योग है और हठ-योग को जैन आचार्यों ने साधना मे अनावश्यक माना है। योग-साधना का उद्देश्य है—चित्त-शान्ति और चित्त प्रसन्नता। हठ-योग की साधना से चित्त को न शान्ति मिलती है, न प्रसन्नता। इसी आधार पर जैन आचार्यो ने अपने योग-ग्रन्थो मे 'हठ-योग' का निषेध करके 'सहज-योग' का ही विधान किया है।

योग-साधना का उद्देश्य—आत्म-विशुद्धि है। आत्म-विशुद्धि के लिए ही योग साधना करनी चाहिए। विभूति, लब्धि और चमत्कार के लिए योग-साधना कदापि नही करनी चाहिए। क्योकि इसमे लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना रहती है। योग्य गुरु के विना योग की साधना सभव नही है।

४१

एकतानता : सफलता की कुञ्जी

प्रत्येक कार्य मे सफलता प्राप्त करने के लिए एक-निष्ठा, लक्ष्य-सलग्नता और एकाग्रता की वडी आवश्यकता होती है। यदि मनुष्य के जीवन मे स्थिरता और एकतानता नही है, तो वह कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नही कर सकता। मन की दृढ इच्छा-शक्ति को किसी एक काम मे केन्द्रित कर देने को 'एकाग्रता एव एकतानता' कहते हैं। ससार मे ऐसा कोई कार्य नही है, जिसे एकाग्रता से पूरा न किया जा सकता हो। जिस प्रकार बूँद-बूँद से घट भर जाता है और पल-पल से युग वन जाता है, उसी प्रकार एक-एक काम के करने से मनुष्य अपने जीवन मे हजारो-हजार कामो को पूरा कर सकता है। एकाग्रता मे वहुत वडी शक्ति है वहुत वडा वल है।

सफल और असफल व्यक्ति मे अन्तर क्या है? यही कि एक ने कम काम किया और दूसरे ने अधिक। क्या यही दोनो के परिश्रम के विभिन्न परिणामो का कारण है? नही, वात कुछ और ही है। सफल व्यक्ति ने अपना सारा काम एकाग्रता और एकतानता से किया था, इसीलिए उसका श्रम सफल हो गया। असफल व्यक्ति ने भी श्रम तो किया था, किन्तु उसके श्रम मे एकाग्रता और एकतानता का अभाव था। इसीलिए असफल व्यक्ति का

श्रम सफल नही हो सका। सफलता के लिए परिश्रम के साथ-साथ एकतानता और एकाग्रता का होना भी परम आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान् कारलाइल कहता है—"दुर्बल-से-दुर्बल व्यक्ति भी अपनी शक्ति को किसी एक कार्य मे केन्द्रित करके कुछ-न-कुछ कर सकता है। इसके विपरीत शक्तिशाली से भी शक्तिशाली व्यक्ति अपनी शक्ति को बिखेर कर अपने लक्ष्य मे असफल हो जाता है। लगातार गिरने वाली बूंदो से कठोर-से-कठोर चट्टान मे भी छेद हो जाता है। निरन्तर की चोट से लोहा भी टूट जाता है।

डिकेन्स कहता है—"ध्यान एक उपयोगी, लाभदायक और प्राप्त करने योग्य गुण है। मै आपको सचमुच विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे आविष्कारो का एकमात्र कारण मेरी मन की एकाग्रता और एकतानता ही है। चाहे लेखक बनकर देश की विचारधारा मे क्रान्ति उत्पन्न कर दीजिए, चाहे खिलाडी बनकर कमाल कर दिखाइए और चाहे गायक बनकर ससार को मुग्ध कर लीजिए। कुछ भी कीजिए, पर उसमे अपने तन और मन को लगा दीजिए, तब देखिए—सफलता आपकी चेरी होकर आपके आस-पास चक्कर काटेगी।" इसी को सफलता कहते हैं।

भारतीय विद्वान् इस 'एकाग्रता और एकतानता' को ध्यान योग कहते है। काम छोटा हो या बडा, उसमे सफलता तब तक नही मिल सकती, जब तक उसमे मन को डुबो न दिया जाए। जब हमे अपने मन पर और अपनी इन्द्रियो पर इतना अधिकार हो जाए कि उन्हे जहाँ हम लगाना चाहे, वही पर वे लगी रहे, इधर-उधर न दौडे, तो समझना चाहिए कि योग साधना मे हमे सफलता मिली है। वस्तुत. एकाग्रता और एकतानता ही सफलता की एक मात्र कुञ्जी है।